श्री आदीश्वर परमात्मने नमः

:: सम्यग्दर्शन ::

का

:: प्रकटीकरण ::

जोधपुर निवासी स्व० सेठ श्री रूपराजजी सा० पगारिया
के सुपुत्र सेठ श्री पारसमलजी तथा उनकी
धर्म पत्नी सूरजकंवर बाई के वर्षी तप
पारणा निमित्ते

सादर भेंट !

अक्षय तृतीया सवत् २०२५

प्रवचनकार
व्याख्यान वाचस्पति आचार्यदेव
श्री विजयराम चन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

प्रकाशक
विश्व शान्ति प्रकाशन,
C/o शोरीलाल नाहर, प्रधानाध्यापक
श्री शान्ति जैन विद्यालय,
ब्यावर (राज०)

मोतीलाल शर्मा के प्रबन्ध से गीता आर्ट प्रेस, ब्यावर में मुद्रित

प्रकट प्रभावी अचिन्त्य चिन्तामणि

प्रकाशकीय निवेदन

"दसण भट्ठो भट्ठो, दसण भट्ठस्स नत्थि निव्वाण।
चरण रहिया सिज्झति, दसण रहिया न सिज्झति॥"

सम्यग्दर्शन से रहित आत्मा भ्रष्ट है। उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। उसके भव भ्रमण का अन्त नहीं आ सकता। चारित्र (द्रव्य-चारित्र) से रहित जीव तो सिद्ध पद को प्राप्त हो सकता है परन्तु सम्यग्दर्शन से रहित आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकती। समग्र धर्मों का मूल यदि कोइ एक तत्व हो सकता है तो वह सम्यग्दर्शन ही है। जैसे मूल के अभाव में कोइ भी वृक्ष अधिक दिन तक स्थिर नहीं रह सकता वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में कोई भी धर्म स्थिर नहीं रह सकता।

वृक्ष के मूल एव जड़ के कारण ही वृक्ष की सारी पत्तिया हरी भरी रहती हैं, उसमें फल फूल लगते हैं और वह वृक्ष विकोसोन्मुख बना रहता है, परन्तु यह तभी तक है जब तक कि वृक्ष का मूल एव वृक्ष की जड़ हरी भरी बनी रहती है।

जो सत्य एक वृक्ष के सम्बन्ध में है वही सत्य अध्यात्म साधना के सम्बन्ध में है। अध्यात्म साधना का मूल आधार सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन से ही अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रत फलते फूलते हैं। श्रावक जीवन की मर्यादा का मूल आधार भी सम्यग्दर्शन ही है। इसी के आधार पर श्रावक का जीवन निर्मल और स्वच्छ रहता है? साधु जीवन के व्रत एव नियमों का आधार भी यही सम्यग्दर्शन ही है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो साधुत्व भाव भी उसमें कैसे रह सकता है?

किसी भी साधक के अन्तरग में जब तक सम्यग्दर्शन की ज्योति है और जब तक उसके जीवन के कण २ में सम्यग्दर्शन की भावना

परिव्याप्त रहती है तब तक उसकी साधना फलवती एवं कल्याण कारिणी बनती है।

पूज्यपाद व्याख्यान वाचस्पति आचार्य देव श्रीमद् विनयरामचन्द्र सूरीश्वरजी के व्याख्यानों में सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा आदि का वर्णन सुन कर जोधपुर निवासी स्वर्गस्थ सेठ रूपराजजी साहब गोलिया के सुपुत्र सेठ श्री पारसमलजी की भावना हुई कि आचार्य महाराज साहब के व्याख्यान 'सम्यग्दर्शन नु स्पष्टीकरण' जो पहले गुजराती में छप चुके हैं, उनका हिन्दी संस्करण छपवा कर अक्षय तृतीया को वर्षी तप के पारणे के उपलक्ष में वितीर्ण किये जायें।

यह भावना उन्होंने पूज्यपाद शान्त मूर्ति ज्ञानी ध्यानी तपस्वी आचार्य देव श्री कैलाश सागर सूरीश्वरजी महाराज तथा उनके प्रशिष्य रत्न उपदेशपटु मुनि श्री पद्मसागरजी को व्यक्त की। उन्होंने इसकी अनुमोदना करते हुए इसे मूर्त रूप देने की हमें आज्ञा फरमाई।

पूज्यों के आदेश को शिरोधार्य करते हुए समयाभाव होते हुए भी यथाशक्य भावनानुसार तैयार करवाने का प्रयत्न किया है। परिशिष्ट में महामांगलिक श्री नवस्मरणादि तथा पूज्यपाद परमाराध्य योग मूर्ति श्री पन्यास भद्रङ्कर विजयजी महाराज की वाणी के दो लेख धर्म मंगल और जीवन सफलता भी सुज्ञ पाठकों को उपयोगी समझ कर छपवा दिये हैं।

अल्पज्ञता एवं दृष्टि दोष के कारण जो त्रुटि रह गई हो उसके लिये हार्दिक क्षमा प्रार्थी हूँ। शिवमस्तु सर्वजगत।

ब्यावर
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
संवत् २०२५

विनीत,
शोरीलाल नाहर

पू. सिद्धान्त महोदधि आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेम सूरीश्वरना पट्टधर

पूज्यपाद् शासन प्रभावक व्याख्यानवाचस्पति आचार्यदेव

* श्री विजयरामचन्द्र सूरीश्वरजी *

श्री वीतरागाय नमः

आमुख

जिस प्रकार श्री अरिहंत प्रभु की आत्मा अपने सम्यक्त्व की शुद्धि करते हुए अपने स्वाभाविक केवल ज्ञान रूपी प्रकाश को प्रगट करने में समर्थ बनी उसी प्रकार यदि हम भी सम्यक्त्व की शुद्धि में रत हो जावें तो एक दिन ऐसा आ जावेगा कि उस दिन अपना स्वाभाविक केवल ज्ञान रूपी प्रकाश प्रगट हो जावेगा। जो भव्यात्माएं सम्यक्त्व शुद्धि की साधना करते हुए अपनी आत्मा को निर्मल बनाती हैं वे निश्चय ही केवल ज्ञान रूपी आत्मप्रकाश का प्रदीपन करने वाली बनती हैं।

जैन कुल में जन्म लेने वाली पुण्यशाली आत्माओं को यदि अभी तक सम्यक्त्व की प्राप्ति न हुई हो तो भी सम्यक्त्व का स्वरूप श्रवण कर सम्यक्त्व रत्न प्राप्ति की तीव्राभिलाषा तो जागृत हो उठती है क्योंकि अपना लक्ष्य बिन्दु मोक्ष है। मोक्ष मार्ग की सच्ची और सफल आराधना सम्यक्त्व बिना सम्भव नहीं। यदि यह बात हृदयगत हो जावे तो फिर सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु आत्म शुद्धि की ओर लक्ष्य जाना स्वाभाविक है। जैसे आत्मा की आवश्यक शुद्धि करने पर ही केवल ज्ञान गुण प्रगट होता है वैसे ही आवश्यक शुद्धिकरण होने पर ही आत्मा में सम्यक्त्व गुण का प्रगटीकरण होता है। सम्यग् दर्शन प्राप्त करने की आकांक्षी भव्यात्माओं को अपनी आत्मशुद्धि साधना के लिए पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा।

'सम्यक्त्व की शुद्धि साधना' का अर्थ भी वस्तुत 'आत्म शुद्धि साधना ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाली आत्माओं को जिस प्रकार आत्मा की परम शुद्धि साधना-मार्ग पर जैसी प्रतीत होती है वैसी सम्यक्त्व रहित आत्माओं को नहीं होती। परन्तु सम्यक्त्व गुण का आकांक्षी भव्यात्मा बोध को प्राप्त होते हुए उस प्रकार की प्रतीति का प्रादुर्भाव करने के लिए प्रयत्नशील होती है।

मोक्ष मार्ग साधना में अन्तरायभूत सब से बड़ी वस्तु राग द्वेष की ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि को आत्मा अपने अपूर्व परिणाम से जब भेद डाले तो मिथ्यात्व का उपशम या क्षायोपशम सम्पन्न हो जाता है। मिथ्यात्व का उपशम अथवा क्षायोपशम होते ही सभामी की विद्यमानता में मोक्ष साधनामार्ग पर हार्दिक प्रतीति होनी सहज हो जाती है।

एक बात तो निश्चित है कि हम सम्यक्त्व प्राप्त कर चुके हो अथवा सम्यक्त्व प्राप्त करने के आकांक्षी हो, दोनों ही दशाओं में आत्म शुद्धि साधना आवश्यक है।

आत्मा की वास्तविक हानिकारक वस्तु क्या है ?

बाह्य दुःख और बाह्य शत्रु अथवा अभ्यंतर दुःख और अभ्यंतर शत्रु ?

जरा विचार करें कि आत्मा को हानि पहुंचाने में बाह्य दुःख और शत्रुओं का कितना सामर्थ्य है। अधिकांश व्यक्तियों की ऐसी धारणा है कि हमें दुःखी करने वाले, सुख से वञ्चित रखने वाले,

और हमारा अहित करने वाले बाह्य दुःख और बाह्य शत्रु हैं। परन्तु ऐसी मान्यता अज्ञान पूर्ण है।

कोई भी बाह्य दुःख हमारे पापोदय बिना उत्पन्न नहीं हो सकता और कोई भी बाह्य शत्रु हमारे पाप के उदय बिना हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकते यह बात तो सर्व विदित है कि बाहर के भयङ्कर दुःख और भयङ्कर आक्रमण के मध्य भी अनेक महात्माओं ने मुक्ति प्राप्त कर ली।

बाह्य दुःख और शत्रु तभी हमारे लिए हानिकारक बन सकेंगे, जब हम स्वयं अपने शत्रु बन जावें अर्थात् हम अपने अभ्यन्तर शत्रुओं के अधीन हो जावें तभी बाहर के दुःख अथवा शत्रु द्वारा हमें हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार कि यदि हमने पूर्व पाप किया होगा। तभी हमें दुःख मिलेगा और दूसरा व्यक्ति हमारे प्रति शत्रुता तभी धारण करेगा, यदि पूर्व में हमने उस के साथ शत्रुता की होगी।

अतः जरा विचार करें कि कौन सी ऐसी वस्तु है जो हमें अपना ही शत्रु बना देती है।

अभ्यन्तर दुःख तथा अभ्यन्तर शत्रु अन्तर के जो शत्रु हैं उन का आत्मा पर जो प्रभाव है वही वास्तविक दुःख है। इसी दुःख में से सभी दुःखों की उत्पत्ति होती है।

आत्मा का वास्तविक अहित करने वाले रागादि अभ्यन्तर शत्रु हैं और इन्हीं के कारण आत्मा को महान् हानि उठानी पड़ती है।

यह बात अच्छी तरह समझ लेने की आवश्यकता है कि राग द्वेष क्रोध मान, माया और लोभ आदि ही आत्मा के लिए वस्तुतः

हा हुआ राग हमें दुःख रूप प्रतीत होता है। आज हमें लाख रुपयों का अभाव दुःखदायी लगता है परन्तु विचार करें कि इस दुःख को नाश करने की इच्छा और उसकी प्राप्ति हेतु परिश्रम द्वारा आत्मा का कितना कष्ट बढ जाता है। यदि हम लाख रुपयों की इच्छा और उसका राग टालने को तत्पर बनें तो आत्मा का कष्ट शान्त हो जायगा। इसलिए यह बात समझ लेनी चाहिये कि हमारे लिए वास्तविक हानिकारक अभ्यंतर शत्रु रागादि हैं।

सम्यग्दृष्टि को रागादि कष्टदायक लगते हैं। सम्यग्दर्शन के स्वरूप का विचार आने से तथा सम्यग्दर्शन प्राप्ति की इच्छा जागृत होने से भव्यात्माएं रागादि को ही अपने लिए हानिकारक मानती हैं शास्त्रकार महात्माओं का कथन है कि 'सम्यग्दर्शन' आने पर नरक और तिर्यंच गति के द्वार बन्द हो जाते हैं। स्वर्गीय और मानुषिक सुख स्वाधीन हो जाते हैं इस कथन का परमार्थ समझने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन के आने पर उसका मन स्वत ही मोक्ष मार्ग की आराधना में तत्पर होता है। और उसकी साधना हेतु सम्यग् चारित्र ग्रहण करने की भावना जागृत हो जाती है। ऐसा होते हुए भी यह तो शक्य है कि अविरति के उदय से सम्यग्दृष्टि आत्मा विरति का एक पच्चक्खाण धारण न कर सके परन्तु वह अपने लिए वास्तविक हानिकारक रूप तो रागादि को ही मानता है और परिणाम स्वरूप अविरति को बहुत बुरा मानता है। उसकी आत्मा अविरति में आनन्द का अनुभव नहीं करती अपितु उसके त्याग के लिए सदैव उत्सुक रहती है।

साप और सिंह द्वारा आजीविका पालन करने वाले को यदि पूछा जाय कि आपको सर्प सिंह कैसे लगते हैं ? यद्यपि उसने उन्हें

आजीविका का साधन बनाया हुआ है, बाह्य दिखावे में सिंह को कुत्ते की भांति और सर्प को खिलौने समान क्रीड़ा कराता है तथापि अन्दर हृदय में तो उसे साप और सिंह भयकर ही लगते है। अत वह उन से सावधान रहता है कि कहीं मेरी भूल पर इनके द्वारा मुझे प्राणों से हाथ धोना न पड़े। ठीक उसी तरह सम्यग्दृष्टि रागादि शत्रुओं को पहचानता है। उसे इनकी सगत करनी पडती है। परन्तु भीतर मन में वह इन्हें विषैले जन्तुओं के समान मानता है। इसी कारण यह बात कहनी भी असगत नहीं है कि जिसमें सम्यग्दर्शन प्रकट हो चुका है और जो जागृत है वह तो न सुख से सो सकता है और न सुख से खा सकता है। ससार के सब सुख उसे हेय और भयकर लगते हैं। यह वस्तुस्थिति भली भांति लक्ष्य में रखने योग्य है।

आज कई व्यक्ति अज्ञानता वश ऐसा कह देते हैं कि सम्यक्त्व तो महा गुण है परन्तु चारित्र आवश्यक नहीं है और इस बात की पुष्टि में वे शास्त्र वचन उपस्थित करते हैं कि—

"चारित्र विण लहे शाश्वत पदवी समकित विण नहिं कोई रे।"

परन्तु इस प्रकार कथन करने वाले भूल जाते हैं कि सम्यक्त्व तो चारित्र प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करता है। उपरोक्त शास्त्र वचन तो द्रव्य चारित्र की अपेक्षा से कहे गये हैं। भाव चारित्र की अपेक्षा से यह बात नहीं कही गयी। शाश्वत सुख प्राप्ति हेतु चारित्र की आवश्यकता नहीं, ऐसा इस शास्त्र वाक्य का अभिप्राय नहीं। आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका हो और कदाचित् द्रव्य चारित्र प्राप्त न हुआ हो तथापि वह सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व का शुद्धि करण करते हुए अपनी आत्मा की ऐसी निर्मलता सिद्ध कर लेवे कि जिससे वह वीतराग दशा को प्राप्त कर सकता है—यह बात बिलकुल सम्भव है

केवल ज्ञान प्राप्त करते ही वह तत्काल मुक्ति पुरी में भी पहुँच जाय यह भी शक्य है परन्तु उस सम्यग्दृष्टि ने मोलह कपायों का पूर्णत क्षय तो किया ही होगा। सोलह कपायों के क्षय बिना किसी को भी वीतराग दशा की प्राप्ति सम्भव नहीं तथा चारित्र के रोधक कपायों का क्षय ही तो मात्र चारित्र की प्राप्ति है। यदि किसी की मान्यता ऐसी हो कि सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर चारित्र पालन मे छूट जाएगे तो उसे सम्यक्त्व की नहीं अपितु तीव्र मिथ्यात्व की प्राप्ति होगी। अतएव यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि ' सम्यग्दर्शन के अभाव में सच्चा चारित्र भी प्राप्त नहीं हो सकता।"

सम्यक्त्व क्या कार्य करता है ?

यह जीव को बोध पाठ देता है कि " सिद्ध करने योग्य केवल एक मोक्ष ही है। इस मोक्ष की साधना हेतु केवल मात्र श्री जिनकथित मोक्षमार्ग ही अराधना करने योग्य है। संसार का कैसा भी सुख हो परन्तु उसमें लिप्त होना श्रेयस्कर नहीं तथा संसार का कैसा भी दुःख हो उसे सहन कर लेना ही कल्याणकारी है।

इसलिए सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करने वाली भव्यात्माओं को ससार का सुख छोड़ने और दुःख को सहन कर लेने का अभ्यास करना पड़ता है। यद्यपि उन्होंने अभी तक ससारिक सुख का राग पूर्णत छोड़ा नहीं तथा दुःख का द्वेष पूर्णत लुप्त हुआ नहीं तथापि "ये राग द्वेष मेरे लिए अहितकर है' इस बात की उन्हें पूरी प्रतीति एव श्रद्धा होती है। जब कभी अन्दर बैठे हुए ये राग द्वेष सम्यग्दृष्टि जीव को सुख के लिए ललचाते है अथवा दुःख से डराते हैं तो वह जीव उनका सामना करता है। कर्माधीन वह सुख की ओर खिसक भी जाय, दुःख से भाग भी जाय, परन्तु अन्दर से मान्यता यही रहती

है कि मैं यह ठीक नहीं कर रहा हूँ। यह मेरे लिए अहितकर है इस कारण सम्यग्दृष्टि आत्मा में राग द्वेष के परिणाम कभी भी तीव्र नहीं हो सकते।

कदाचित् आत्मा प्रमाद में फंस जाय और राग द्वेष के परिणाम तीव्र बन जावें, तो आत्मा में सम्यक्त्व के परिणाम जाते रहेंगे। अतः सम्यग्दृष्टि जीव भी कई बार सुख के कारण अथवा दुःख के कारण सम्यग्दर्शन से वंचित हो जाता है।

भगवान् महावीर देव की आत्मा मरिची के भव में इन्हीं दुःख सुख के परिणामों में फंस जाने के कारण पहले चारित्र से वंचित हुई थी और फिर सम्यक्त्व से। जब उन महापुरुषों को भी इस प्रकार पद सम्यक्त्व से वंचित होना पड़ा तो सांसारिक सुख के लोभ और दुःख के द्वेष से हमारी क्या दशा होगी यह बात विचारणीय है। हमें इस प्रकार का विचार करना चाहिये कि हमारे भगवान् कठोर तपश्चर्या का आचरण कर मोक्ष को प्राप्त हुए। कई मुनि महात्मा अपने शरीर के चलते २ मुक्ति सुख के अधिकारी बने तो एकांत सुख में मग्न बने हुए हमारी क्या दशा होगी?

यह बात तो समझनी ही पड़ेगी कि जब तक संसार का सुख आत्मा को बुरा नहीं लगेगा तब तक धर्म हृदय में स्थिर नहीं हो सकता। सांसारिक सुख अरुचिकर लगे बिना यद्यपि धर्म क्रिया सम्भव है तथापि उस धर्म को हृदय में स्थिर करने हेतु संसार के सुख को क्लेशकारक समझना एवं इस बात को अच्छी तरह से हृदयगत करना ही पड़ेगा।

सुभाषित

१ इस ससार में किसी को देने योग्य केवल श्री अरिहंत का धर्म है।

२ विपत्ति वास्तव में विपत्ति नहीं, प्रभु को भूलना ही विपत्ति है। सम्पत्ति वास्तव में सम्पत्ति नहीं, प्रभु की स्मृति ही सम्पत्ति है।

३ सम्यग्दृष्टि की आत्म समक्ष चौबीस घण्टे आत्मा ही रहती है।

४ इच्छा दुःख को उत्पन्न करती है सुखी वही है जिस ने इच्छा का निरोध कर लिया है।

५ ससार में जरूरतें बहुत हैं, ये इच्छा को उत्पन्न करती हैं, इच्छा की पूर्ति के लिए पाप करना पडता है, पाप से दुःख होता है, मोक्ष में सुख है क्योंकि वहा कोई जरूरत नहीं।

६ सम्पत्ति में आनंद न मनाओ यह पूर्व पुण्यों का क्षय करने वाली है, तथा विपत्ति में दुःखी न बनो इस से तो पूर्व के पाप कटते हैं।

७ सुख को उदासीनता पूर्वक और दुःख को प्रसन्नता से भोगना सीखो।

८ तुम्हारे वर्ताव से किसी को दुःख उत्पन्न न हो।

९ बढिया २ खाने की इच्छा पाप है परंतु भक्ति अथवा दया से खिलाने की इच्छा धर्म है। पहले में राग है दूसरे में त्याग है।

१० लक्ष्मी सब अनर्थों की जड है। इसे लाने की इच्छा न करो। यदि आती हो तो सदुपयोग द्वारा निकालने में लगे रहो।

* श्री शखेश्वर पार्श्वनाथाय नम *

सम्यग्दर्शन

का

प्रकटीकरण

— * —

१ सम्यग्दर्शन की भूमिका।

जीव की रुचि धर्म की ओर कब झुकती है ?

अनतोपकारी शास्त्रकार परमर्षि फरमाते हैं कि विवेकशील प्राणी के लिए यदि इस ससार में सर्व प्रथम प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु है तो वह सम्यग्दर्शन है क्योंकि इसको प्राप्त किये बिना प्राणी के लिए अन्य जो कुछ प्राप्त करने योग्य है, उसे और उसकी प्राप्ति के साधनों को वह न तो उपलब्ध कर सकता है और न ही उनका वास्तविक रूप में आचरण ही कर सकता है। सच्ची शांति किसे कहते हैं इसका भी उस प्राणी को बोध नहीं होता।

आत्मा को सच्ची शांति प्राप्त कराने वाला प्रथम गुण सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन गुण आत्मा की सच्ची शांति प्राप्त कराने में स्तम्भ है ऐसा इस प्राणी को अनुभव होना चाहिये। भव्य

आत्मा को ही ऐसा आभास होता है, परन्तु इसके लिए संसार में भव्य ऐसे भी जीव की भवितव्यता का परिपक्व होना अवश्यम्भावी है। उसके साथ का भी परिपाक होना चाहिये। इन सब का मिलाप पुण्य के योग से ही हो सकता है। प्राणी को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का मन हो जाए इस अनेक प्रकार की सामग्री भी सहायक बनती है।

यदि हम विचार करें तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि पुण्योदयसे मिलने वाली उस सामग्री को तो हमने प्राप्त कर लिया है। अब तो मुख्यतः हमें पुरुषार्थ की ही आवश्यकता है। परन्तु इस संसार में पुण्य से मिले हुए सुख ऐसे हैं कि जीव जब तक सही दिशा की तरफ दृष्टि नहीं डालता और विचारशील नहीं बनता तब तक इन सुखों के प्रति रही हुई राग की तीव्रता उसकी दृष्टि को ऊपर उठाने ही नहीं देती। इन सुखों पर जब तक जीव की लालसा बनी रहेगी तब तक उसका मन भी सच्ची दिशा की ओर नहीं जा सकेगा।

अचरमावर्त्त काल में जीव मात्र की ऐसी ही दशा होती है। अचर- मावर्त्त काल में जीव की दृष्टि सांसारिक सुखों से हटे, ऐसा सम्भव ही नहीं होता। जीव जब चरमावर्त्त काल में आ जाता है तथा चरमावर्त्त में आये हुए जीव को भी जब सम्यग्दर्शन गुण के विचार को उत्पन्न करने वाली सामग्री की प्राप्ति हो जाती है और इस सामग्री के मिलने के पश्चात् भी जब जीव अपनी स्फुरणादि अथवा सद्गुरु के उपदेश से विवेकशील होता है तब ही उस का सम्यग्दर्शन गुण की तरफ ध्यान आकर्षित होना सम्भवित है। सद्गुरु का योग प्राप्त हो और उनका उपदेश सुनने का जितने जीवों को अवसर प्राप्त हो उन सब जीवों का लक्ष्य सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो, ऐसा भी सम्भव नहीं। अभवी और दूरभवी जीवों को भी सद्गुरुओं का योग अनेक बार मिलता है

परंतु उनको उस योग का जैसा फल मिलना चाहिये वैसा नहीं मिलता। भव्य जीवों में भी मन को जब २ ऐसा योग मिलता है तब २ वह योग सफलीभूत ही हो, यह भी कोई निश्चित बात नहीं है। जिन भव्य जीवों को विचार करते करते अथवा सद्गुरुओं के उपदेश का श्रवण करते हुए मन में ऐसे भाव उत्पन्न हो कि इस संसार में चाहे जितना भी सुख हो, वह मेरे लिए कल्याणकारी नहीं है, कारण रूप नहीं है उन जीवों की दृष्टि संसार से ऊपर उठती है और धर्म के प्रति उनकी रुचि जाग्रत होती है।

संसार कैसा लगता है ? —

यह संसार कैसा है ? प्राणी को दुःख दायक है या सुखदायक ? संसार में दुःख अधिक है और सुख अल्प, तथा वह भी केवल नाम मात्र का है। परंतु इस सुख की लालसा जीव को इतनी लगी हुई है कि दुःखी जीव भी सुख की किरण को लेकर ही जीता है। और सुखी जीव सुख में इतना मोहित हो जाता है कि भविष्य में मेरा क्या होगा, ऐसी चिंता उसे होती ही नहीं। जब इस सुख पर से दृष्टि हट जाय तब चाहे जितना भी सुख मिले तो भी यही विचार आएँगे कि इन सुखों द्वारा मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये सुख तो ऐसे है, कि जो जीव इन की तरफ दृष्टि डाले उसे ये दुःखी किए बिना नहीं रहेंगे। जब जीव दुःखी अवस्था में हो तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि सुख के लोभ ने ही मुझे इस स्थिति पर पहुँचाया है। अब मुझे संसार के सुखों की इच्छा छोड़नी चाहिए और मुक्ति के उपायों की खोज करनी चाहिए।' 'संसार का कोई भी सुख, यदि हम सावधान न रहें, तो दुःख का ही कारण बनता है इसलिए इन दुःखों से मुक्ति पाने के लिए संसार के सुखों की ...

नहीं वरन् इनसे मुक्ति की प्राप्ति हो ऐसा पुरुषार्थ करना श्रेयस्कर है। जब जीव के मस्तिष्क में यह बात निश्चित हो जाय तब ही उसे ऐसा ध्यान आता है कि "सचमुच धर्म ही जीवन के लिए आवश्यक है" तभी उस का शुद्ध यथाप्रवृतिकरण शुरु होता है। इससे क्रमश असख्य गुण प्राप्ति एव असख्य कर्म निजरा होने योग्य स्थिति पैदा हो जाती है और इस प्रकार जीव बढते २ सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त कर लेता है।

शुद्ध यथाप्रवृतिकरण कब आये ? —

सम्यग्दर्शन, यह गो सेतो आत्मा का तथाविध परिणाम स्वरूप है, परन्तु इससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव की अपेक्षा से ऐसा कह सकते हैं कि 'तत्वभूत जो पदार्थ हैं उनका जैसा स्वरूप श्री जिनेश्वर भगवतों ने कथन किया है, वैसे ही स्वरूपको जीव समझे, यह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है। क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक। उसमें अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सब प्रथम प्राप्त होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक सम्यक्त्व माना जाता है। किसी मत की अपेक्षा से क्षायोपशमिक भी माना जा सकता है। परन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के बिना जीव को क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। अपनी बात तो यह है कि सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये पहले क्या चाहिये ? शुद्ध यथा प्रवृतिकरण चाहिये। "ससार खराब है, इससे छूटना आवश्यक है।" जब तक ऐसी भावना नहीं आती तब तक शुद्ध यथाप्रवृतिकरण नहीं आ सकता।

ग्रंथिदेश में आया हुआ जीव यथाप्रवृतिकरण को प्राप्त कर सकता है और ग्रंथिदेश में भी जीव यथाप्रवृतिकरण द्वारा ही प्रवेश करता है परन्तु वह उपयोग पूर्वक का या जीव के पुरुषार्थ पूर्वक का

शुद्ध यथाप्रवृतिकरण गिना जाता। ऐसे यथाप्रवृत्ति करण से नदी घोलपाषाण न्याय की तरह जीव जब आयुष्य कर्मसिवाय सात कर्मों की एक कोटाकोटि न्यून स्थिति में आता है, तब यह जीव उस ग्रन्थिदेश में आया हुआ माना जाता है। उस जीव को जो ग्रन्थि देश में आया हुआ है यदि और आगे बढ़ना है तब तो उसे अपनी दृष्टि ससार से ऊपर उठानी ही होगी। अभवी और दूरभवी भी ग्रन्थिदेश में प्रविष्ट हो जाते हैं परन्तु उनकी दृष्टि ससार के सुखों पर ही गड़ी रहती है अत वह आगे नहीं बढ़ते। जीव को जब ऐसे विचार आयें कि "अब तो मुझे ग्रन्थिदेश से आगे बढ़ना है अत मुझे इन सुखों से अलिप्त रहना चाहिये। इन सुखों में मेरा निस्तार करने की शक्ति नहीं है वरन् इन से तो मेरा ससार भ्रमण ही बढ़ेगा।" तब जीव में शुद्ध यथाप्रवृतिकरण आता है।

शुद्ध यथाप्रवृतिकरण अपूर्वकरण को लाता है —

हमें यह विचार करना चाहिये कि ससार का सुख हमें कैसा लगता है ? ससार का सभी सुख पुण्य से ही प्राप्त होता है। जीव के अपने पुण्योदय के बिना उसे ससार का सुख मिल ही नहीं सकता। वर्तमान में जीव की जैसी स्थिति है उसमें सुख उसे दु ख दायी भी हो सकता है तथा उससे काम चलाऊ शांति का अनुभव भी हो सकता है और यश मान आदि भी मिल सकते हैं। कभी सासारिक सुख की सब बातें दिल को पसन्द आती हैं और कभी दिल में ऐसा अनुभव होता है कि वस्तुत ये ठीक नहीं इनसे मेरा भवभ्रमण नहीं मिट सकता। मुझे इनकी सहायता अभीष्ट है परन्तु इनमें मस्त होकर मुझे अपने स्वरूप को नहीं भुला देना चाहिए। नित्य प्रति धर्म करने वाले को तो अपनी आत्मा से यह प्रश्न विशेषत पूछना चाहिए कि "तुझे यह सुख कैसा लगता है ? प्राप्त करने जैसा

या छोड़ने जैसा ? तुझे संसार का सुख चाहिए या मुक्ति का सुख ? संसार के सुख की अगर जरूरत पड़ती है तो, वह कमजोरी है क्या तुझे ऐसा अनुभव होता है ? क्या वास्तव में तुझे ऐसे विचार आते हैं।" जब ऐसे विचार उत्पन्न हो तभी शुद्ध यथा प्रवृत्ति करण आता है। शुद्ध यथाप्रवृत्तिकरण ही अपूर्वकरण को लाने वाला परिणाम है और अपूर्वकरण आने ही ग्रंथीभेद प्रारम्भ होता है और उस के बाद आत्मा में अनिवृत्तिकरण नाम का परिणाम पैदा होता है। यही परिणाम सम्यग्दर्शन के प्रकटीकरण का कारणभूत होता है। तत्पश्चात उस जीव को शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म की उपासना के सिवाय कोई भी उपासना वास्तविक रीति से करने योग्य प्रतीत नहीं होती।

क्रिया भिन्न और परिणाम भिन्न —

स० क्या साधुपन आने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है ? क्या साधुपन से ग्रंथि भेद होता है ?

सच्चा साधुपन तो ग्रंथिभेदादि से होता है। सम्यग्दर्शन और सर्वविरति के परिणाम भी तब ही प्रगट होते हैं। वास्तविक रूप से जो सर्व विरति को प्राप्त होता है उस का ग्रंथिभेद तो होता ही है। ये क्रिया मात्र की बातें नहीं, परिणाम की बातें हैं। सर्व विरति की जो क्रिया की जाती है वह भिन्न वस्तु है तथा इसका जो परिणाम आता है वह भिन्न वस्तु है। शुद्ध क्रिया और परिणाम, दोनो का एक ही स्वरूप होना चाहिए परंतु ऐसा स्वरूप बहुत कम जीवों का होता है। जो क्रिया चालू होती है उसका उल्टा ही परिणाम भीतर घूमता रहता है। अधिकतर ऐसा ही होता है अथात जीव सर्व विरति की क्रिया में तत्पर हो और उसका परिणाम उल्टा हो ऐसा भी हो सकता है। इसी प्रकार देशविरति की क्रिया भिन्न वस्तु है और देशविरति का परिणाम भिन्न है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का परिणाम भी एक

अलग बात है। यहा यदि हम यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि करणों की बात करते हैं तो वह परिणाम की बात है। करण अर्थात आत्मा का परिणाम। मनुष्य जो सामान्य रीति से क्रिया को देखते हैं। लोग हमें इस वेश और क्रिया में देखकर साधु कहते हैं। तुम अनुव्रतादि को धारण करो तो तुम्हें लोग श्रावक कहेंगे साधु या श्रावक की क्रिया मात्र से सम्यग्ज्ञान आ गया है और सर्व विरति या देशविरति का परिणाम आ ही गया है ऐसा नहीं माना जा सकता। अभव्य जीव और दुर्भव्य जीव भी साधुपन और श्रावकपन की क्रिया को कर सकते हैं। वे इस लोक के व परलोक के सुख के लिए दीक्षा भी ले सकते हैं और उसका अच्छी तरह पालन भी कर सकते हैं। सासारिक सुखों के लिए देश विरति के व्रत भी ले सकते हैं। इन सब सम्यक्त्व की ओर ले जाने वाली क्रियाओं को व इस लोक व परलोक के सुख की अपेक्षा को रखकर करते हैं। उनकी बहुत सी क्रियाए तो देखा देखी और दिखावा मात्र होती हैं। हमें अपने अन्तर में यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि हम जो धर्म क्रिया कर रहे हैं वह किस लिए कर रहे हैं ?

परिणाम को पैदा करने के लिए क्रिया की जाती है।

ये सब धर्म क्रियाए अमृत लता तुल्य हैं, परन्तु जब जीव के परिणामों का कोई ठिकाना नहीं होता तो वहा क्रिया मात्र से सफलता सभव नहीं है। इन क्रियाओं को करने वाले का ध्येय क्या होना चाहिए ? उसे ऐसे भाव आने चाहिये कि 'ससार का सुख, अथात ससार के सुख का राग बहुत बुरी चीज है और मुझे इन सबसे छूटना है जब ऐसे विचार आयें तब क्रिया पूर्ण फलदायी होता है। परिणाम, वेष मात्र से या क्रिया मात्र से नहीं आ सकते। कभी ऐसा भी हो सकता

है कि गृहस्थ वेष में रहते हुये सर्वविरति का परिणाम चढ़ जाये। परन्तु सर्वविरति के परिणामों को स्थिर रखने के लिये साधु का वेश जरूरी है। धर्म को अधिकाधिक जीवन में उतारने तथा अधिकाधिक पालन करने की अनुकूलता साधु जीवन में है, साधु क्रिया में है।

धर्म को प्राप्त करने की अनुकूलता जैन कुल में अधिक होती है। जैन कुल में जैनत्व के आचार विचार चालू ही होते हैं। सद्गुरुओं का योग मिलने पर वे साधु बनकर स्वाध्याय आदि में रत रहने के कारण सम्यक्त्व गुण को जल्दी ही प्राप्त कर सकते हैं। जैन कुल में आये हुए जीव को सद्गुरुओं का योग भी सरलता एवं शीघ्रता से ही मिल सकता है। प्रश्न यह है कि जैन कुल में जन्म लिया हुआ प्राणी यदि सद्गुरुओं की संगति ही नहीं चाहता हो तो क्या होगा ? बात यह है कि सर्वविरति के परिणाम हों या न हों, देशविरति के परिणाम हों या न हों, सम्यक्त्व के परिणाम हों या न हों फिर भी उन की प्राप्ति के लिये और उन्हें शुद्ध निर्मल बनाने हेतु सर्वविरति की, देशविरति की तथा सम्यक्त्व की क्रियाओं का अभ्यास आवश्यक है। जो जीव जैसी भी क्रियाएं करते हैं वे उन क्रियाओं को सर्वविरति, देशविरति और सम्यक्त्व की प्राप्ति के ध्येय से तथा प्राप्त किये हुए सम्यक्त्व को निर्मल बनाने के लिये करते हैं या नहीं इस बात का विचार करने की आवश्यकता है।

हमें स्वयं ही अपनी धर्म क्रिया के लक्ष्य की खोज करनी चाहिये। इसलिये हमें सबसे पहले स्वयं से ही पूछना चाहिये कि-"लोक में सुखमय माने जाने वाले ऐसे संसार की तरफ तेरी कैसी दृष्टि है ? जीव ! तू प्रतिदिन पूजा करता है, दान, शील, तप आदि क्रियाओं को करता है तो क्या वास्तव में तुझे ये सब चीजें अच्छी लगती हैं ?' जो वस्तु वास्तव में प्रिय होती है उसे प्राप्त करने का मन

होता है। चाहे जितनी धर्म क्रिया करते हों परन्तु जिस दिन सुखमय संसार अच्छा लगे, इसी में जीव का आनन्द अनुभव हो, उसी दिन से मनुष्य का मन उसकी तरफ आकर्षित होने लगेगा। दूसरी ओर जब यह सुखमय संसार खराब लगे, त्याज्य है ऐसा अनुभव हो तब जीव की गति धर्म की ओर झुकने लगती है और वह उन सुखों को त्यागने में तत्पर हो जाता है। यह सुखमय मायावी संसार वास्तव में घृणित लगने लगे, तो उसका ध्येय शु० हुआ समझना चाहिये जब ध्येय ठीक होगा तब परिणाम अपने आप सुधर जायेंगे जब जीव की दृष्टिसंसार के सुखों पर ही घूमती रहती हो तब उसके ध्येय का सुधार होना कठिन है। वह जीव तो उसी के पीछे लग जाता है जो उसे सांसारिक सुख को प्राप्त कराने का आश्वासन देता है अथवा उन बातों में सहारा लेता है सुख मिले या न मिले परन्तु उसकी आशा ही आशा में दुःखों को भोगता रहता है। इस प्रकार दुःखों को झेलने वाला और सांसारिक सुख की आशा से वर्तमान सुख को छोड़ने वाला प्राणी धर्म का आचरण कर रहा है, क्या ऐसा कहा जा सकता है संसार के सुख की आशा रखने वाला जीव धर्म क्रिया, कर ऐसा भी हो सकता है। अगर उसे ऐसा विचार आ जाय कि जो सुख मुझे अभीष्ट है वह इससे मिलेगा तब भी वह धर्म क्रियायें करेगा इस लोक में नहीं परन्तु परलोक में तो बहुत सुख मिलेगा ऐसा विचार आ जाये, तब भी जीव अनेकानेक कष्ट उठाते हुये भी धर्म क्रिया करता है। परन्तु इन सब धर्म क्रियाओं को करने वाले जीव की दृष्टि कहां होती है ? संसार के सुखों पर ही।

इसीलिये उसकी सारी धर्म क्रिया अन्तःकरण के परिणाम नहीं बदल सकती ? आज के धर्म क्रिया करने वाले इतने चतुर हो गये हैं कि—अगर उन्हें पूछें कि—तुम यह सब धर्म किस लिए करते हो ? तो वे कहते हैं—'मोक्ष के लिए।' मोक्ष

ही लक्ष्य है ऐसा कहते हैं। उस समय उनका अन्तःकरण जानने के लिए अथवा उन्हें समझाना हो तो ऐसा पूछना पड़ता है कि 'मोक्ष अच्छा लगता है, इसका क्या कारण है ? संसार का सुख अच्छा नहीं लगता इसलिए धर्म करते हो या संसार का सुख मिलता नहीं है इसलिए मोक्ष की बात बनाकर संसार का सुख प्राप्त करने के लिए धर्म करते हो ?" मोक्ष अच्छा लगता है इसका अर्थ तो यह है कि सचमुच में संसार खराब लगता है।

मुनिवर श्री अनाथी और श्री श्रेणिक महाराजा—

वास्तव में जिसे मोक्ष अच्छा लगता हो और इसी के लिए धर्म मार्ग पर चलता हो, वह जीव संसार के बड़े से बड़े सुख के लालच में आकर धर्म को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो सकता। वह तो सुख देने वाला को भी ऐसा समझाता है कि 'इस सुख में कोई सार नहीं है। इसके लालच में जो आयेगा वह संसार के दुःखों में डूबे बिना नहीं रह सकता।

श्री अनाथी मुनि ने श्री श्रेणिक महाराज से क्या कहा ? क्या समझाया ? श्री श्रेणिक महाराजा तो उन्हें सुख देने आये थे। उस समय श्री श्रेणिक महाराजा मिथ्यादृष्टि थे। संसार के सुख को ही सच्चा सुख मानने वाले थे। एक बार अपने परिवार के साथ वह घूमने निकले। रास्ते में उन्होंने एक बगीचे में चम्पक वृक्ष की छाया में शिला पर बैठे तपश्चर्या करते हुए एक महात्मा को देखा। महात्मा की अवस्था और सुन्दरता पर दृष्टि पड़ते ही राजा को यह विचार आया कि—'यह राजकुमार जैसा युवक ऐसा कष्ट क्यों उठा रहा है ? निश्चय ही यह दुःखी है इसके पास सुख सामग्री नहीं होगी इसीलिए इसने इतनी छोटी उम्र में बाबा जैसा वेश पहन रखा है और तपश्चर्या कर रहा है।" संसारी प्राणी को साधु बाबा

जैसा या भिखारी लगे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

श्री श्रेणिक महाराजा को भी ऐसा ही विचार आया क्योंकि वह मिथ्यात्व रत हुआ था परन्तु मिथ्यात्व वाली अवस्था में रहते हुए भी राजा एक सद्गुणी मनुष्य था इसलिए वह सोचने लगा कि— "कि अगर यह युवक किसी दु:ख के कारण घर से निकल आया हो और इस कष्ट के मार्ग पर चल गया हो, तो मुझे इससे पूछना चाहिये और इसके दु:ख को दूर करना चाहिए। अगर इसे सुख चाहिये तो मैं इसे सुखी कर सकता हूं।"

ऐसा विचार कर महाराजा श्री श्रेणिक ने महात्मा से पूछा कि— "आपके रूप को देख कर मुझे ऐसा लगता है कि आप सामान्य मनुष्य नहीं हैं। राजकुमारों जैसा आपका रूप है और आपकी उम्र अभी छोटी है फिर भी आपने किस दु:ख के कारण भोगों का त्याग किया और इस कष्टमय जीवन को स्वीकार किया। आपको जो दु:ख हो वह मुझे बताइये ताकि मैं दूर करने की चेष्टा करूं।

महात्मा सोचने लगे कि— "इतना बड़ा मनुष्य भी मिथ्यात्व के योग के कारण कितना अज्ञानी हो रहा है।" वे कहने लगे कि— "मुझे और तो कोई दु:ख नहीं था, परन्तु मुझे ऐसा अनुभव हुआ था कि इस संसार में मैं अनाथ हूं। मुझे अनाथपन का दु:ख इतना खटका कि संसार छोड़कर मैं इस मार्ग की ओर निकल पड़ा।"

महात्मा ने ऐसा कहा परन्तु श्रेणिक उनके कथन के मर्म को समझ नहीं सके और सोचने लगे— "मेरे जैसा महाराजा होते हुए भी किसी को अनाथपने का दु:ख हो ऐसा कैसे हो सकता है? मेरे राज्य में, किसी भी अनाथ का मैं नाथ हूँ। मेरे राज्य में कोई

अनाथ रहे तो यह मेरे लिए लज्जाप्रद है।' अतः वे मेरे नाथ बनने को तैयार हो गए और कहने लगे कि— "आप इस बात की बिल्कुल चिन्ता मत करें। जगत में यदि आपका कोई नाथ नहीं है तो भी आज से मैं आपका नाथ बनने को तैयार हूँ।"

यह सुनकर मुनि ने मुस्कराते हुए कहा कि— "जो स्वयं अनाथ है वह दूसरों का नाथ किस तरह बन सकता है ?"

मुनिवर मगध के महाराजा को अनाथ कहते हैं। श्री श्रेणिक ने सोचा कि— 'ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने मुझे पहचाना नहीं।" मुझे अनाथ कहने वाला यह कौन है ? इस बात पर राजा को क्रोध नहीं आया। क्या आज किसी सत्ताधीश या बड़े नेता को ऐसा कह सकते हैं ? और यदि किसी ने ऐसा कह दिया हो तो क्या वे ऐसा सुन सकते हैं ? कदाचित् वह मुख से न भी बोले परन्तु मन में तो उस क्रोध अवश्य आएगा। महाराजा श्री श्रेणिक तो सन्त भाव से उपकार करने आए थे। उनकी मानवता उच्च कोटि की थी। इसलिए, इस बात को सुनकर उनको अल्प मात्र भी क्रोध नहीं आया और मुनि को अपना परिचय दिया।

मुनिवर विचारने लगे कि इस सज्जन पुरुष को अब मुझे अनाथ पन का रहस्य समझाना चाहिए। वे बोले कि "राजन्! सुनो, मेरे भी आप जैसे पुत्र वत्सल पिता थे। बड़ी प्यारी माँ थी। भाई भी स्नेही हृदय वाला था। सुख सामग्री की कोई कमी न थी। हमारे घर में लक्ष्मी का कोई पार नहीं था। इन्द्राणी से भी बढ़कर रूप वाली पत्नी मेरी सेवा में सदा तत्पर रहती थी। उसके साथ भोग भोगते मुझे कितना समय व्यतीत हो गया इसका भी मुझे ख्याल नहीं रहता था। एक दिन मुझ पर एक ऐसी शारीरिक आपत्ति

आई कि उस समय मेरा कोइ नाथ नहीं बन सका। कोई भी मुझे उस रोग से नहीं छुड़ा सका। सब सगे सम्बन्धी स्नेहीजन देखते रहे, घबराते रहे, परन्तु कोई भी मुझे उस दुःख से नहीं छुड़ा सका। उन्होंने बहुत सउपचार किए पर कोई भी उपचार सफल न हो सका उस समय मुझे अपने अनाथपने पर ध्यान आया। "मैंने सोचा-इनमें से कोइ भी मुझे शरण देने में समर्थ नहीं है।' विचार करते २ मैंने सोचा कि "इस ससार में परिभ्रमण करते हुए जीव के लिए वास्तव में कोई शरण रूप है तो केवल एक धर्म ही है। वह धर्म ही जीव को ससार से सर्वथा मुक्त बना सकता है। अनत उपकारी भगवान श्री जिनेश्वर देवा ने ही ऐसा धर्म फरमाया है। उस समय मैंने निश्चय किया कि अगर मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊ तो तत्क्षण इस सब सुख सामग्रिया का त्याग कर एक मात्र श्री जिन कथित धर्म की शरण स्वीकार कर गा। अब तो ससार में मुझे जिन कथित धर्म के सिवाय किसी की शरण नहीं' मैंने ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया। आश्चर्य की बात यह हुई कि मेरी सारी वेदना तुरत शात हो गई उसी क्षण मैंने माता पिता भाइ भगिनी, स्त्री आदि सब को छोडकर सब भोगों का त्याग कर घर से निकल पडा। भगवान के बताए हुए सयम मार्ग की शरण स्वीकार की। उसको ग्रहण करने के पश्चात् आज मैं अपूर्व समता सुख को प्राप्त कर चुका हूँ। अब कहो राजन् कि अनाथ तुम हो या मैं ? मैं अनाथ था पर अब सनाथ हो चुका और तुम ?"

महाराजा श्री श्रेणिक इन वार्तों को सुनकर विचार में पड़ गए। उन्हें अपने अनाथपन का ध्यान आया। राजा को भी ऐसा अनुभव हुआ कि "इस ससार में अगर कोई शरण रूप है तो वह एक मात्र श्री जिन कथित-धर्म ही है।" उस पुण्यवान आत्मा में वहीं

धर्म तुम नहीं करते हो, क्या इस बात का तुम्हें अपने हृदय में दुःख होता है ? क्या धर्म के मामले में नित्य नये २ उल्लास उत्पन्न होते हैं ? व्यवहार में तुम जिस प्रकार सोचते हो कि ऐसा करूं ऐसा करूं, क्या धर्म के लिए भी कभी ऐसा सोचा है ? सच्ची बात तो यह है कि संसार के विषयों में तो तुम्हें असन्तोष है परन्तु धर्म की बातों के लिये सन्तोष ! संसार के मामलों में असन्तोष, यह पाप है। पाप के उदय के बिना संसार की बातों में असन्तोष और धर्म के लिए सन्तोष नहीं हो सकता।

सन्तोष का अर्थ भी तुम समझलो। धर्म के मामले को लेकर यदि कोई तुम्हें प्रेरणा करे तो तुम ऐसा कहते हो कि "जितना हो सकता है उतना तो हम करते ही हैं"। शक्ति एवं सामग्री के होने पर भी नगण्य धर्म करते हो तथापि ऐसा मानते हो कि "हम से जितना हो सकता है उससे ज्यादा ही करते हैं। यह है धर्म के बारे में तुम्हारा सन्तोष। धर्म में कोई नया कार्य करने के तुम्हें मनोरथ ही नहीं आते और न ही आगे बढने की कभी कोई इच्छा उत्पन्न होती है।

असन्तोष का मूल—

ऐसे मनुष्य को दुनिया की चाहे जितनी समृद्धि मिले तो भी उसके मुंह से यही निकलेगा "इतने में क्या होगा" वह हमेशा ऐसा ही मानता रहता है और ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने की योजनायें बनाता रहता है। मेहनत करता रहता है और उपायों को खोजता रहता है, यह असन्तोष है या और कुछ ? असन्तोष तो ऐसा है कि जब मौसम का समय आये तब जो चालू धर्म होगा उसे भी छोड़ते

देर नहीं लगेगी। सीजन चालू हुआ, तो साधुजी से भी कह देते हैं कि "महाराज! अब फुर्सत नहीं है काम का बहुत जोर है।" धर्म करने का सुन्दर अवसर हो, अच्छे सद्गुरुओं का योग हो तो भी धन के लिये सब छोड़ देगें। यदि कोई सहारा देने वाला मिल जाय, कमाई कराने वाला मिल जाय तो इसके पीछे लगने देर नहीं लगेगी वह घर छोड़ने का कहे तो घर भी छोड़ देगें और गाव छोड़ने का कहे तो उसे भी छोड़ने को तैयार हो जायेंगे वह कहे कि कलकत्ता चलना पड़ेगा तो ऐसा कहेंगे कि "कोई मुश्किल नहीं।" परदेश ले जाने वाला मिले तो वहा भी जाने के लिये तैयार हो जायेंगे। कहा जाता है कि "धर्म तो किसी भी समय हो सकता है बुढ़ापे में हो सकता है, अरे दूसरे भव में भी कर सकते हैं परन्तु धन कमाने का ऐसा अच्छा अवसर फिर शायद नहीं मिलेगा, इसलिये जाता हूँ।" पीछे तो उसका कुछ पता नहीं रहता ऐसे जंजाल और कार्यों में वह फंस जाता है कि साधुओं के पास आने की फुर्सत ही नहीं मिलती धन आदि के मामलों में जिस प्रकार का असंतोष बैठा हुआ है, ऐसा असंतोष जिसे धर्म में हो ऐसा जीव तो खोजने पर आज भाग्य से ही मिलता है। कारण कि—जगत के एक बड़े भाग के जीव ऐसे हैं कि—दुःखमय ससार की तरफ इनका हृदय और दृष्टि दोनों ही आकर्षित हो रहे हैं।

हृदय में लगन किसकी है ?

तुम यहा शान्त बैठे हो, इसके पीछे भी कारण यह है कि तुम्हारा घर और पेढ़ी आदि ठीक २ चल रहे हैं। नहीं तो ? वहा सब कुछ ठीक हो तभी तुम यहा शान्तिपूर्वक बैठ सकते हो, क्या यह ठीक है ? वस्तुतः लगन किसकी है ? इच्छा किसकी है ? यदि वहा कुछ गड़बड़ हो जाये तो तुम कहा होओगे ? यहा अथवा वहा

यहा सब कुछ ठीक हो तब भी क्या यहा ज्यादा समय बैठने का मन होगा ? क्या वहा समय पर पहुँचना आवश्यक है ? जो लोग नौकरी करते हैं उनकी बात भिन्न है। वे तो पराधीन हैं। कठिनता से नौकरी मिली हो और फिर देरी से जाये तब कदाचित मालिक नौकरी पर से हटा देवे तो फिर बेचारे कहा जावें ? अत उनकी बात तो जाने दो उनकी परिस्थिति ऐसी है तो वह उनका कर्त्तव्य हो जाता है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु जो ठीक स्थिति वाले हैं वह ऐसी बातें कैसे कह सकते हैं ? हम यह जानते हैं कि वे विचार यहा शान्ति से बैठे हैं इसका अर्थ है वहा सब ठीक रहे। इसलिये, तुम जो धर्म करते हो उसमें भी लगन तो ससार के सुख की होती है। ऐसा समझ में आता है। चाहे कैसा भी अवसर आ जाय धर्म की रुचि वाले जीव के हृदय में तो लगन धर्म की ही होगी, धनादि की नहीं।

दोपहर की पूजा में लीन श्री पेथड़शा मत्री का एक प्रसग :-

हमारे यहा पेथड़शा नाम के एक मत्री हो गए हैं ? मालवा प्रदेश के वे एक बड़े मत्री थे। मालवा प्रदेश का राजा मत्रीश्वर पेथडशा का बहुत सम्मान करता था। परन्तु मत्री पेथडशा ऐसा मानते थे कि वह सब मान सम्मान पुण्याधीन है अर्थात् उनके हृदय में लगन धर्म की थी, मत्रीपन आदि की नहीं। इसी कारण इतने बड़े मत्री होते हुए भी त्रिकाल श्री जिन पूजा नियमित रुप से करते थे।

एक समय की बात है कि मालवा पर अवती की राज सेना ने अचानक हमला किया। मालवा नरेश ने लडने के लिए आए हुए राजा के साथ सधि की बातचीत करने का निश्चय किया।

राजा ने तुरन्त ही राज्य में जो सबसे बड़ा ज्योतिष का जानकार था उसे बुलाकर मुहूर्त निकालने के लिए कहा। ज्योतिषी ने कहा कि— "दोपहर के समय से पूर्व की एक घड़ी और दोपहर के बाद की एक घड़ी, इतने समय में विजय नाम का योग है और यह योग सब कार्यों में सिद्धि देने वाला है।"

राजा ने इस विजय नामक योग में प्रयाण करने का निर्णय किया, फिर वह सोचने लगे कि मन्त्रीजी से मन्त्रणा कर लेनी चाहिये। इसलिए राजा ने पेथडशा मन्त्री को बुलाने के लिए अपना एक आदमी मन्त्री के घर भेजा।

वहां ऐसी बात बनी कि—"मन्त्रीश्वर दोपहर की पूजा में बैठे थे और विविध पुष्पों से प्रभुजी की अग रचना कर रहे थे। मन्त्रीश्वर प्रतिदिन अपने एक व्यक्ति को स्नानादि कराकर शुद्ध वस्त्र पहना कर अपने पीछे बैठा दिया करते थे। वह मनुष्य मन्त्रीश्वर को प्रभुजी की अग रचना के लिए जरूरी पुष्प क्रमवार देता जाता था अर्थात्, मन्त्रीश्वर को पुष्प लेने के लिए भी प्रभुजी के ऊपर से दृष्टि नहीं हटानी पड़ती थी इस तरह वे एकाग्रचित्त से प्रभुजी की अग रचना करते थे।

राजा का आदमी मन्त्रीश्वर को लेने के लिए घर आया। उसने मन्त्रीश्वर की पत्नी से कहा कि— "महाराजा को बहुत जरूरी काम है इसलिए मन्त्रीश्वर को जल्दी बुलाया है।"

मन्त्रीश्वर की पत्नी ने कहा— "अभी तो मन्त्रीश्वर नहीं मिल सकते यह तो उनके देव पूजा का समय है।"

राजा का आदमी वापिस चला गया है, परन्तु मन्त्रीश्वर की पत्नी को जरा भी चिंता नहीं हुई। क्या राजा के आदमी को ऐसा कहकर वापिस भेजा जा सकता था ? हां, कुछ भी हो, परन्तु पूजा में विघ्न नहीं आना चाहिए, ऐसा वह मानती थी।

वह मनुष्य राजा के पास पहुचा और उसने मन्त्री की पत्नी द्वारा दिया हुआ उत्तर कह सुनाया। परन्तु राजा को मुहुर्त्त की चिंता थी। मुहुर्त्त का समय निष्फल जाए, यह राजा को उचित प्रतीत नहीं होता था। इस कारण राजा ने मन्त्री के घर दूसरे दूत को भेजा। दूसरे दूत ने भी आकर मन्त्रीश्वर की दासी या द्वार पर जो भी खड़ी थी उसको राजा की आज्ञा कह सुनाई।

मन्त्रीश्वरकी पत्नी ने जब सुना तो तुरन्त ही राजा के दूत के पास आकर मधुरतापूर्वक कहा--"भाई ! राजाजी को कहना कि अभी भी मन्त्रीश्वर देव पूजा में हैं अभी उनको दो घड़ी जितना समय और लगेगा।"

इस तरह दूसरा दूत भी मन्त्रीश्वर के घर से चल पड़ा। उस समय भी मन्त्रीश्वर की पत्नी को ऐसा विचार नहीं आया कि--"मन्त्रीश्वर को खबर दे दू। यह कोई सामान्य प्रसंग नहीं था। राजा की तरफ से बार २ बुलावे आ रहे थे। राजा को कोई जरुरी काम होगा तभी तो बुलाने आ रहे हैं," यह बात मन्त्रीश्वर की पत्नी जानती थी। मन्त्रीश्वर यदि किसी अन्य कार्य में होते तो उन्हें वह अवश्य समाचार पहुँचा देती। परन्तु उस समय मन्त्रीश्वर धर्म कार्य में देव पूजा में लीन थे। प्रतिदिन का उनका नियम था। इसलिए जो होना होगा वह होगा परन्तु अभी तो मन्त्रीश्वर को कुछ कहा नहीं जा सकता ऐसा मन्त्रीश्वर की पत्नी मानती थी।

राजा क्रोधित होगा तो क्या होगा? इसकी मन्त्रीश्वर की पत्नी को जरा भी चिंता न थी, यह क्या सामान्य बात है? राजा क्रोधित होगा तो क्या कर लेगा? मन्त्री पद ही उसे छीन सकता है, और क्या होगा? मन्त्रीपद जाए तो उसमें कोई खेद नहीं था, धर्म जाए यह एक खेद की बात थी वह ऐसा समझती थी। यह सच्ची लगन की बात चल रही है। मन्त्रीश्वर के हृदय में और उनकी पत्नी के हृदय में किसकी लगन थी? देव पूजा आदि एकाग्रतापूर्वक करने में किसकी लगन थी? मन्त्री पद आदि की, सांसारिक ऋद्धि सिद्धि की, या धर्म की? लगन तो धर्म की चाहिए? धर्म की लगन हो तभी तो मनुष्य उत्तम रीति से धर्म कर सकता है।

धर्म के प्रभाव से मन्त्रीश्वर को राजा भी अच्छा मिला था। दूसरा दूत राजा के पास जाकर बोला कि-- "मन्त्रीश्वर की पत्नी ने कहा कि अभी दो घड़ी जितना समय देव पूजा में और लगेगा।" यह सुनकर भी राजा क्रोधित नहीं हुआ। एक तरफ तो राजा को ऐसा विचार आता था कि मन्त्रीश्वर देवपूजा में कितने लीन होने होंगे? और दूसरी ओर राजा को मुहूर्त के लिए भारी उत्सुकता थी इसलिए राजा स्वयं मन्त्रणा करने के लिए मन्त्री के घर जाने को तैयार हुए हैं। मन्त्रीश्वर के घर आकर साथ के परिवार को बाहर छोड़कर राजा ने अकेले ही घर में प्रवेश किया। राजा को स्वयं आए हुए देखकर भी मन्त्रीश्वर की पत्नी को कुछ भी घबराहट नहीं हुई। यहां राजा ने सबसे कह दिया कि मेरे आने की खबर कोई भी मन्त्री को नहीं देवे।

राजा के मन में ये विचार तो आ ही गया था कि मन्त्रीश्वर को पूजा करते हुए देखना चाहिये इसलिये वे पूजा स्थल की

एक मनुष्य के बताये हुये मार्ग से जहां श्री पयन्दास पूजा में लीन थे वहां पहुँचे। मन्त्रीश्वर की पूजा में एकाग्रता को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह राजा भी धार्मिक वृत्ति वाला था। धर्म का प्रसंग हो और वहां राजा भी प्रसन्न हो, यह वास्तव में पुण्योदय की बात है।

मन्त्रीश्वर के पीछे बैठा हुआ मनुष्य मन्त्रीश्वर को क्रमसर पुष्प देता जाता था और मन्त्रीश्वर भगवान् की अंग रचना करते जाते थे। राजा को भी उल्लास उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे कि मैं भी इस पूजा में मन्त्रीश्वर का सहायक बनूं। इस कारण राजा ने संकेत करके मन्त्रीश्वर को पुष्प देने वाले व्यक्ति को हटा दिया और स्वयं एक के बाद एक पुष्प देने लगे। जिस बात के लिए राजा वहां तक आया था उसे तो वह मन्त्रीश्वर को पूजा में तल्लीन देखकर भूल ही गया।

राजा मन्त्रीश्वर को पुष्प देता जाता था। परन्तु किस क्रमसे फूल देने थे इसका तो राजा को पता नहीं था इसलिये जो पुष्प देना चाहिये वह न देकर राजा ने दूसरा पुष्प दे दिया। एक बार ऐसा हुआ तो भी मन्त्रीश्वर ने कुछ नहीं कहा, मनुष्य से भूल हो सकती है यह सोचकर रह गया, परन्तु बार २ ऐसा होने लगा इसलिए मन्त्रीश्वर ने स्वयं पुष्प लेने के लिए मुख फेरा।

अपने आदमी के बार २ भूल करने पर भी मन्त्रीश्वर शांत रहे, उन्हें बिलकुल क्रोध नहीं आया। क्या यह सामान्य बात है ? जरा विचार करो कि मन्त्रीश्वर के स्थान पर यदि तुम होते तो क्या तुम्हारा मन शांत रहता ? क्या क्रोध का पारा तत्काल ऊपर न चढ़ जाता ? पूजा करने वालों में श्री जिन मंदिर में कभी २ कैसी बोल

घात हो जाती है, कषायों का ताण्डव नृत्य होने लगता है। यह अत्यन्त शोचनीय है। ऐसी दशा में चित्त की एकाग्रता कैसे रह सकती है ?

मन्त्रीश्वर ने पुष्प लेने के लिए ज्यों ही पीछे दृष्टि डाली कि वहा पुष्प देने वाले व्यक्ति के स्थान पर राजा को बैठे हुए देखा। मन्त्रीश्वर उसी समय खड़े होने लगे परन्तु राजा जी ने तत्काल हाथ पकड़ कर उन्हें अपने स्थान पर बैठा दिया। मन्त्रीश्वर को इस प्रकार उत्तम रीति से पूजा करते हुए देखकर राजाजी का हृदय गद्गद् हो उठा। वह मन्त्री से कहने लगे कि—"वास्तव में तुम धन्य हो, कृत पुण्य हो। भगवान्जी पर तुम्हारी भक्ति को देखकर मैं ऐसा मानता हूँ कि वस्तुत तुम्हारा जन्म भी प्रशसा पात्र है तथा तुम्हारा धन भी प्रशसनीय है।" मन्त्रीश्वर की अनन्य भक्ति से प्रभावित होकर राजाजी ने यहा तक कह दिया कि—"तुम्हारे सिवाय इस प्रकार भगवान्जी की पूजा करने वाला कौन होगा ? अत राज्य के चाहे जितने कार्य हो और कदाचित् मैं भी बुलाने के भेज दू तो भी तुम पूजा के समय कभी आने की आवश्यकता नहीं। अभी तुम शातिपूर्वक पूजा कर लो। मैं बाहिर बैठता हूँ।" ऐसा कहकर राजा बाहर आकर योग्य आसन पर बैठ गये और मन्त्रीश्वर फिर से एकाग्र होकर पूजा में लीन हो गये।

दूसरों की लगन के सहारे जीने की वृत्ति छोड़कर धर्म की लगन के सहारे जीने वाले बनो।—

यह तो स्पष्ट है कि मन्त्रीश्वर को भगवान् की पूजा में यह तीव्र लगन उसकी धर्म श्रद्धा के कारण थी परन्तु तुम सोचो कि अभी

तुम जो यहा इतनी शाति से बैठे हुए हो वह किसकी लगन के कारण है। तुम्हें धर्म की लगन है या पेढ़ी, घर कुटुम्ब की ? अभी घर से कुछ विचित्र या दु खद समाचार आ जावे तो क्या तुम व्याख्यान पूरा होने तक शाति से बैठे रह सकते हो ? क्या तुम चलते न बनोगे ? सामायिक में अकेले ही बैठे हो तो क्या स्थिरता रहेगी या तत्काल चल पडोगे ? यहा सबके बीच में बैठे हो तो सामायिक छोडकर जा तो नहीं सकते। बैठ जरूर रहोगे परन्तु तुम्हारे मन में कैसी गडबड चलती रहेगी ? यहा व्याख्यान चल रहा हो तो भी तुम्हारे मन में विचारों की लहरें उठती रहेगी। क्योंकि धुन तो ससार की लगी हुई है। व्याख्यान की बातें कानों में पडती हैं परन्तु मन तो भिन्न ही कार्य करता रहता है यदि कुछ कह देवें तो उत्तर मिलता है कि— "महाराज को मेरे दु ख का क्या पता है ?"

परन्तु जिसके हृदय में धर्म की लगनी होती है उसकी ऐसी दशा नहीं होती। वह समझता है कि ससार की किसी भी अच्छी वस्तु का मिलना, टिकना, भोगना आदि सब पुण्याधीन है। यदि कोई वस्तु चली भी गई तो क्या हुआ ? हमारे पुण्य की कमी है तभी ऐसा बनाव बना है। यदि इसके बिना कुछ कष्ट भी होगा तो उसे हम सह लेंगे। क्योंकि अशुभोदय के कारण आने वाली आपत्ति को ससार की वस्तुए या सगे सम्बन्धी नहीं हटा सकते। चाहे जैसी भी आपत्ति आ जाये परन्तु धर्म हृदय में रहना जरूरी है। आपत्ति के समय हृदय में नहीं रहेगा तो हमें कौन समाधि में रखेगा ? सुख में अथवा दु ख में केवल एक मात्र धर्म की ही शरण है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि— "धर्म ही सर्वस्व है, धर्म ही भाई है, धर्म ही पिता है, धर्म ही माता है। भाई, पिता, माता आदि की तरह यह सच्ची सहायता देने वाला है अरे! और तो क्या कहूँ,

संसार के भाई माता पिता आदि भी अपनी जो मार संभाल लेते हैं यह भी धर्म का ही प्रताप है। धर्म यदि नहीं रहेगा तो पिता, माता, भाई, पत्नी आदि कोई पूछेगा भी नहीं।" क्या ऐसे धर्म को सांसारिक सुख के लिये या सगे सम्बन्धियों के लिये छोड़ सकते हैं ? जिस समय संसार की सामग्री अथवा कोई सगे सम्बन्धी काम नहीं आते, उस समय यदि धर्म विद्यमान हो तो वह ही सहायक बनता है। वह सुख दे सकता है और दुःख के उदय में चित्त को समाधि में भी स्थिर रख सकता है। इसलिए लगन तो धर्म की ही होनी चाहिये। जब धर्म की रुचि हो और वह चित्त में स्थिर हो जाय तब ही यह माना जा सकता है कि धर्म हमें सब दुःखों से छुड़ाकर अनुपम सुख प्रदान कर सकेगा।

संसार के सुख से जीव की दृष्टि ऊपर उठी है ऐसा कब कहा जा सकता है ?—

इसीलिए हम यह बात कर रहे हैं कि— "जब तक सुखमय ऐसे संसार से जीव की दृष्टि ऊपर नहीं उठती, तब तक जीव का कोई ठिकाना नहीं है। यह सुख चाहे जितना अधिक मिले परन्तु जीव का सम्पूर्ण भला तो इससे कदापि शक्य नहीं है। यह सुख स्थिर तो है नहीं। या तो वह स्वयं चला जायगा या हमें इसको छोड़ कर जाना पड़ेगा इस सुख को प्राप्त करने, भोगने एवं स्थिर रखने के लिए जो हिंसादिक पाप लगते हैं उनका फल तो जीव को ही भोगना पड़ता है। पाप फल दुःख है। इसलिए इन सुखों के भोग में जीव फंसे तो उसके लिए यह निश्चित है कि वह कभी अवश्य दुःखी होगा। इस जन्म में सुख और अगले जन्म में दुःख ऐसा भी हो सकता है। इस सुख की आशा ही आशा में जीव भटकता रहता है और

लिये विविध पुरुषार्थ करता रहता है। इसकी बजाय हमें ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे यह अनादि भ्रमण समाप्त हो जाय। जीव को यदि ऐसे विचार आयें, तभी उसकी दृष्टि संसार से ऊपर उठती है और शुद्ध यथा प्रवृति करण आने लगता है। जीव को अनुभव से विचार करते २ ऐसा अनुभव होना चाहिए कि—"इस सुख के पीछे चाहे जितना पुरुषार्थ करें तो भी इससे स्थायी कल्याण तो संभव नहीं है इतना ही नहीं इस सुख का रस जीव को नरक और निगोद में भी ले जा सकता है। इस सुख के रस बिना ऐसा पाप बंध नहीं हो सकता कि जिससे नरक और निगोद में जीव को जाना पड़े। इसलिए जो भी जीव नरक या निगोद के अधिकारी हुए या भविष्य में होंगे, उनकी उस अवस्था का मुख्य कारण सुख का रस ही है। अद्यपर्यन्त इस जीव की जो दुर्दशा हुई है वह सब सुख के रस का परिणाम है। जीव को शाश्वत सम्पूर्ण सुख के लिए क्या करना चाहिये ? ऐसे विचारों का उत्पन्न होना भी शुद्ध यथाप्रवृतिकरण को लाने का कारण बनता है। इन विचारों के प्रताप से उस जीव को धर्म जानने की इच्छा होती है। इस तरह संसार के सुख से जब जीव की दृष्टि ऊपर उठती है तब वह आगे बढ़ने लगता है।

धर्म को जानने के लिए साधु समागम आवश्यक है या नहीं —

जब धर्म को जानना होगा तो धर्मी जीव के पास जाना ही पड़ेगा, क्या यह ठीक नहीं है ? इसलिए धर्म को जानने की इच्छा वाले जीव को जब ऐसी प्रतीति हो जाए कि उस व्यक्ति के जीवन में तो धर्म ही है, तो वह उसके पास जायेगा और उससे धर्म के बारेमें नवीर

बातें जानने का पुरुषार्थ करेगा। जिस जीव की दृष्टि संसार के दुखों से ऊपर उठ गई है उसी जीव का आत्म कल्याण हेतु धर्म की बातें जानने का मन होगा। यह जीव इतना तो समझता ही होगा कि सुसाधुओं के सिवाय मुझे दुनिया में अन्यत्र वास्तविक बोध प्राप्त नहीं हो सकता। हाई स्कूल या कालेजों में भी ऐसा शिक्षण तो मिल नहीं सकता। जहां संसार का सुख ही सब कुछ माना जाता हो क्या वहां से सच्चे धर्म का बोध पाठ मिल सकता है ? सच्चा धर्म तो मुख्य रूप से सुसाधु ही समझा सकते हैं। धर्म का वास्तव में जिसने स्वाद अनुभव किया हो, वह ही यथार्थ रूप से उसका वर्णन कर सकता है, उसे समझा सकता है। धर्म का जो वास्तविक स्वाद छट्ठे गुणस्थानवर्ती आगे बढे हुए साधु को आता है क्या वह किसी दूसरे को आ सकता है ? जहां सभा में इन्द्रादि देव बैठे हों तो भी वहां संसार के सुखों को कौन खराब कह सकता है ? इन्द्रादि देवों और चक्रवर्ती आदि राजाओं को भी ऐसी प्रतीति हो कि यह बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, ऐसा कब संभावित हो सकता है ? इन्द्रादिक को ऐसा आभास हो कि अभी हमारे पास चाहे जितना सुख वैभव है परन्तु हम वास्तविक रूप से सुखी नहीं हैं। हमारा इन्द्रपद आदि कुछ निश्चित काल तक के लिए है। एक दिन इसको छोड़ना ही पड़ेगा इसलिए यह भी दुख ही है। मात्र एक वर्ष के पर्याय वाला सच्चा साधु जिस सुख का अनुभव कर सकता है उस सुख का अनुभव इन्द्रादि भी नहीं कर सकते। शुद्ध धर्म का सच्चा स्वाद यह वस्तु ही भिन्न है। अपनी बात तो यह है कि— "जिसको धर्म को जानने की इच्छा हो उसे सच्चे साधु के पास जाने की इच्छा उत्पन्न होगी या किसी और के पास जाने की ? सुसाधुओं ने संसार के सुखों की परीक्षा करली होती है व उन्हें अच्छी तरह से पहचान चुके होते हैं इसीलिये

तो उन्होंने उनका त्याग किया होता है अतः सच्चे सुख का उपा ये ही कह सकते हैं। ससार की असारता आदि की पहचान कराकर, व ही भगवान के कहे हुए वास्तविक धर्म को बतला सकते हैं। भगवान् और सुसाधु को मानने वाला ही सच्चा श्रावक ससार की असारता को समझ सकता है। संसार दु खमय है, दु ख फलक है, दु ख परंपरक है ऐसा उसे बोध होता है।

सद्गुरु क्या समझाते हैं ? :—

इस ससार में धर्म ही सारभूत है इसका वर्णन करने के लिये सद्गुरु सबसे पहले दुःखमय ऐसे ससार की असारता को समझाते हैं। मोक्ष प्राप्ति बिना सच्चा और पूर्ण सुख मिल नहीं सकता, ऐसा सद्गुरु बतलाते हैं। मोक्ष की साधना का जो उपाय है वह धर्म ही है। इस धर्म का मार्ग श्री जिनेश्वर भगवन्तों ने दर्शाया है। जिस जीव को सम्पूर्ण रूप से धर्म करना हो तो उसे ससार का सम छोड़ना चाहिए ऐसा भी सद्गुरु कहते हैं। जिस जीव के असख्य कर्म की निर्जरा हो चुकी हो उस ही सद्गुरुओं द्वारा संसार का यह वास्तविक दिग्दर्शन हृदयगम होता है। वह भले ससार में बैठा हो और संसार में बैठकर सासारिक सुखों का भोगोपभोग करता हो परन्तु मन में तो वह यही सोचता रहता है कि— "ससार का सुख छोड़े बिना एकान्त धर्म की अराधना नहीं हो सकती" जब ऐसी दशा प्रगट हो जाए तो फिर अपूर्वकरण प्रगट होने में विलम्ब नहीं होगा।

दुखों का अनुभव सभी ने किया है एव करते हैं :—

इन सब बातों के अन्तर्गत हमारा ध्येय यही है

कि इन्हें सुनने एव विचारते हुए आत्मामें शुद्ध परिणाम आ जाय अथवा मोक्ष के उपाय रुप धर्म को ही जीवन में धारण करने का उल्लास प्रगट हो जाय। इसलिए प्रत्येक को देखना चाहिये कि ससार में दु ख कितना है और सुख कितना ? ससार में जो थोड़ सुख है वह भी दु ख मिश्रित ही है। ससार में दु ख का तो पार ही नहीं। तुमने इस भव में अनेक दु ख सहन किये, क्या ऐसा तुम्हें अनुभव होता है ? माता के गर्भ में तो दु ख भोगा ही, परन्तु जब से जन्म धारण किया है तब से तुमने दु ख देखा ही नहीं तथा एकान्तसुख अनुभव किया क्या ऐसा तुम कह सकते हो ? जब से जन्म धारण किया सभी दिन एक जैसे रहे, ऐसा तो नहीं हुआ ? देखा जाय तो बचपन से ही दु खों को सहन करते आये हो, रोगादिक को अलग रखें तो भी अभी कोइ तुम्हें कम दु ख नहीं है, परन्तु कितने दु ख ऐसे होते हैं कि जिन्हें तुम कह नहीं सकते और कितने दु ख मोह के वश तुम्हें दु ख रुप प्रतीत नहीं होते। ऐसा होते हुए भी ससार दु खमय है यह बात तुम्हारे मस्तिष्क में बैठनी ही चाहिये।

उत्तम कार्य बड़ों से पूछे बिना भी किया जा सकता है ? :—

तुमने शायद बड़े घराने में जन्म लिया [illegible] तो भी बचपन में अपने माता पिता की मार तो सही ही [illegible]। [illegible] के कारण दण्ड तो मिला ही होगा। दण्ड [illegible] कारणों से मिल सकता है। किसी वस्तु को बिगाड़ने से अथवा [illegible] से। इन दोनों में भेद तो है। यदि माता पिता [illegible] होंगे तो वे सासारिक वस्तुओं के नुकसान को अधिक महत्व नहीं देंगे, स्नेह और प्यार के आगे यह नुकसान [illegible] है।

ऐसी भूल तो हो सकती है परन्तु सन्तान से यदि खराब काम हो जाए तो इसके लिए वह उन्हें उपालम्भ दिए बिना नहीं रहेंगे। न्याय पूर्वक व्यापार करते हुए बाजार की ऊँच-नीच के कारण यदि लडका लाख रुपयों का नुकसान करता है तो भी पिता को दुःख नहीं होता और पुण्य पाप की बात करके उसे आश्वासन देता है। परन्तु यदि पुत्र अनीतिपूर्वक ५ लाख कमाकर लाया हो तो उसको बहुत दुःख होगा और वह उसे समझाएगा कि अनीति से धनवान बनने की अपेक्षा नीति से सामान्य जीवन जीना श्रेष्ठ है; अनीति से ५ लाख लेकर आए तो उसे उपालम्भ देना और नीतिपूर्वक धन्धा करते हुए वह कदाचित खो डाले तो भी उसे उपालम्भ नहीं देना, यह बात क्या तुम्हारे मस्तिष्क में बैठती है? ये बातें तो अभी धर्म प्राप्त होने से पहले की हैं। आर्य देश के सामान्य संस्कार ऐसे होते हैं कि—"अच्छे कुटुम्बों में सांसारिक कार्य बड़ों से पूछे बिना नहीं हो सकते। परन्तु कोई ऐसा अवसर होता है कि अच्छा काम बड़ों से पूछे बिना भी किया जा सकता है। ऐसे पिता भी होते हैं कि जिनके पुत्र किसी काम में बिना उनकी अनुमति लिए लाख रुपये दे आये हों तो भी वे ऐसे कहेंगे कि शुभ कामों में तो देना ही चाहिए।" इसी प्रकार धर्मी माता पिता की सन्तान ऐसा समझे कि—धर्म करने का मन हो जाए और माता पिता को पूछने का अवसर न हो तो बिना पूछे भी धर्म करने में कोई आपत्ति नहीं है। उसे विश्वास होता है कि मैं कोई धर्म का कार्य करूंगा तो माता पिता मुझे बाधा नहीं डालेंगे।

विवाह करके अपनी राजधानी में वापस आते हुए श्री वज्रबाहु का दीक्षा ग्रहण करना —

श्री जैन रामायण में श्री वज्रबाहु का प्रसंग आता है। राजकुमार

वज्रबाहु अपने पिता राजा विजय की आज्ञा से इभवाहन राजा की पुत्री मनोरमा राजकुमारी के साथ विवाह के लिए गया था। राज्य के रीति रिवाज के अनुसार बहुत बड़े महोत्सवपूर्वक उसका विवाह सम्पन्न हुआ और तत्पश्चात मनोरमा सहित राजकुमार वज्रबाहु अपने नगर की ओर प्रयाण किया। वज्रबाहु का साला राजकुमार उदयसुन्दर भी स्नेहवश साथ २ चलता थे। उनके साथ दूसरे २५ राजकुमार भी थे। दोनों ही राज्यों का बहुत बड़ा परिवार भी साथ था। मार्ग में चलते २ वे बसन्त नाम के पर्वत के पास आ पहुँचे। उस पहाड़ पर गुण सागर नाम के एक महान मुनि तप कर रहे थे। तप का भारी तेज उन महात्मा के चेहरे पर देदीप्यमान था। सूर्य के सामने ऊंची दृष्टि रख कर वे महात्मा आतापना ले रहे थे। श्री वज्रबाहु ने रथ में बैठे २ पहाड़ पर रहे हुए उन महात्मा को देखा और जिस प्रकार मेघाम्बर को देखकर मोर का हृदय खिल उठता है उसी प्रकार उनका भी हृदय हर्ष से खिल उठा।

उसी समय श्री वज्रबाहु ने एक घोड़े की लगाम पकड़ ली और उदयसुन्दर से कहा कि "रथ को रोको। देखो, कोई महात्मा इस पहाड़ पर तप कर रहे हैं, हम उनको वंदन करेंगे। हमारा अहो भाग्य है कि यहां ऐसे महामुनि के दर्शन हुए हैं।"

श्री वज्रबाहु और मनोरमा अन्दर रथ में बैठे थे और उदयसुन्दर रथ को चला रहा था। श्री वज्रबाहु का कथन सुनकर उदयसुन्दर को मजाक करने की सूझी। श्री वज्रबाहु तो समझते थे कि मार्ग जाते हुए महात्मा मिल जायें और उनको वंदन न किया जाए तो आशातना होती है। परन्तु उदयसुन्दर विचार करने लगा कि "अभी के विवाहित घर जाते हुए कुमार

का महात्मा के पास जाने का मन क्यों हुआ है ? उसने मजाक में श्री वज्रबाहु से पूछा कि "क्या आपका दीक्षा ग्रहण करने का मन हो गया है ?" तुरत ही श्री वज्रबाहु ने उत्तर दिया कि —"दीक्षा लेने का मन तो है ही।" उदयसुन्दर ने श्री वज्रबाहु के इस उत्तर का भी उपहास उड़ाया और हसी मजाक में कहने लगा-कि-"कुमार ! यदि दीक्षा लेने का आपका मन हो तो आज ही दीक्षा ले लो, जरा भी विलब मत करो, मैं भी आपको दीक्षा लेने में सहायता करू गा।" मानो कि वे दोनों एक दूसरे को मजाक के रूप में हराने का प्रयत्न कर रहे हों, श्री वज्रबाहु भी उदयसुन्दर से कहने लगा- "जिस प्रकार सागर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तुम भी अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना।"

इस समय भी उदयसुन्दर मजाक में बोल उठा कि-"बिल्कुल ठीक, ऐसा ही होगा।' इस तरह साले बहनोई के बीच बात चल रही थी और मनोरमा ये बातें चुपचाप सुन रही थी। उनकी बातों के बीच में उसने कुछ भी कहना उचित न समझा। वह बुद्धिमती और विनीता थी। आर्य पत्नी, अच्छे कामों में अपने पति का ही अनुसरण करती है। वह समझती है कि "यदि पति दीक्षा लेते हैं तो मुझे भी दीक्षा लेनी चाहिये और यदि दीक्षा जितनी शक्ति न हो तो सुशीला सती की तरह रहकर जीवन व्यतीत करना चाहिये।' "पति दीक्षा लगे तो मेरा क्या होगा ?" ऐसा वह नहीं सोचती, जो होना होगा वह होगा परन्तु ऐसे उत्तम काम में बाधा तो नहीं डाली जा सकती। इसलिए वह नव विवाहित राजकुमारी मनोरमा जो अभी सुसराल भी नहीं पहुँची, अपने पति और भाइ के बीच जो बातें हो रही थीं उनको सुनती रही परन्तु बीच में वह एक शब्द भी नहीं बोली। अब ऐसी घटना हुई कि-श्री वज्रबाहु ने इस पर

परस्पर वार्तालाप में सचमुच दीक्षा लेने का मन में निश्चय कर लिया। वह सोचने लगे कि मुझे यह बहुत ही सुन्दर योग मिला है। इसीलिये उन्होंने साले के सहायक बनने के वचन को पकड़ लिया और सागर जिस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार अपने वचन में दृढ़ रहने की सूचना भी दे दी। ऐसी मनोभावना के साथ श्री वज्रबाहु रथ में से नीचे उतर, मानो कि वह मोह से मुक्त होने के लिए जा रहे हो। जब श्री वज्रबाहु नीचे उतरे तब मनोरमा और उदयसुन्दर भी नीचे उतर पड़े। अब सारा परिवार वसन्त शैल पर चढ़ने लगा।

श्री वज्रबाहु शान्ति और दृढ़ता से पहाड़ पर चढ़ रहे थे। उन्हें देखकर पहले तो उदयसुन्दर को शंका होने लगी परन्तु तत्पश्चात् उसे यह निश्चय हो गया कि कुमार दीक्षा ग्रहण करने के लिये ही जा रहे हैं। वह सोचने लगा कि—'यह तो मेरी मजाक का बहुत गम्भीर परिणाम निकला।' ऐसा विचार कर वह श्री वज्रबाहु से कहने लगा कि—'हे स्वामिन्!'

अब कुमार के बदले स्वामिन् कहकर नम्रता से बात करने लगा। कि—"आप आप दीक्षा ग्रहण न करें। आपको जो कुछ मैंने कहा वह तो मजाक थी। मेरी इस मजाक को धिक्कार हो।"

"हम दोनों ने जो बातें कीं वह तो केवल मजाक के रूप में थी। मजाक की बातें सत्य नहीं होती अथवा मजाक में दिये हुये वचन का उल्लंघन करने में कोई दोष नहीं होता।"

"सब कष्टों में मैं आपका सहायक हूँगा, इसलिए आप हमारे कुल के जो मनोरथ हैं उन मनोरथों को मिट्टी में न मिलाइए।"

का महात्मा के पास जाने का मन क्यों हुआ है ? उसने मजाक में श्री वज्रबाहु से पूछा कि "क्या आपका दीक्षा ग्रहण करने का मन हो गया है ?" तुरत ही श्री वज्रबाहु ने उत्तर दिया कि —"दीक्षा लेने का मन तो है ही।" उदयसुन्दर ने श्री वज्रबाहु के इस उत्तर का भी उपहास उड़ाया और हंसी मजाक में कहने लगा-कि-"कुमार! यदि दीक्षा लेने का आपका मन हो तो आज ही दीक्षा ले लो, जरा भी विलम्ब मत करो, मैं भी आपको दीक्षा लेने में सहायता करूंगा।" मानो कि वे दोनों एक दूसरे को मजाक के रूप में हराने का प्रयत्न कर रहे हों, श्री वज्रबाहु भी उदयसुन्दर से कहने लगा- "जिस प्रकार सागर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तुम भी अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना।"

इस समय भी उदयसुन्दर मज़ाक में बोल उठा कि-"बिलकुल ठीक, ऐसा ही होगा।" इस तरह साले बहनोई के बीच बात चल रही थी और मनोरमा ये बातें चुपचाप सुन रही थी। उनकी बातों के बीच में उसने कुछ भी कहना उचित न समझा। वह बुद्धिमती और विनीता थी। आर्य पत्नी, अच्छे कामों में अपने पति का ही अनुसरण करती है। वह समझती है कि "यदि पति दीक्षा लेते हैं तो मुझे भी दीक्षा लेनी चाहिये और यदि दीक्षा जितनी शक्ति न हो तो सुशीला सती की तरह रहकर जीवन व्यतीत करना चाहिये।" "पति दीक्षा लेंगे तो मेरा क्या होगा ?" ऐसा वह नहीं सोचती, जो होना होगा वह होगा परन्तु ऐसे उत्तम काम में बाधा तो नहीं डाली जा सकती। इसलिए वह नव विवाहित राजकुमारी मनोरमा जो अभी सुसराल भी नहीं पहुँची, अपने पति और भाई के बीच जो बातें हो रही थीं उनको सुनती रही परन्तु बीच में वह एक शब्द भी नहीं बोली। अब ऐसी घटना हुई कि-श्री वज्रबाहु ने इस पर-

परस्पर वार्तालाप में सचमुच दीक्षा लेने का मन में निश्चय कर लिया। वह सोचने लगे कि मुझे यह बहुत ही सुन्दर योग मिला है। इसी लिये उन्होंने साले के सहायक बनने के वचन को पकड़ लिया और सागर जिस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार अपने वचन में दृढ़ रहने की सूचना भी दे दी। ऐसी मनोभावना के साथ श्री वज्रबाहु रथ में से नीचे उतर, मानो कि वह मोह से मुक्त होने के लिए जा रहे हों। जब श्री वज्रबाहु नीचे उतरे तब मनो रमा और उदयसुन्दर भी नीचे उतर पड़े। अब सारा परिवार पर्वत शैल पर चढ़ने लगा।

श्री वज्रबाहु शान्ति और दृढ़ता से पहाड़ पर चढ़ रहे थे। उन्हें देखकर पहले तो उदयसुन्दर को शंका होने लगी परन्तु तत्पश्चात् उसे यह निश्चय हो गया कि कुमार दीक्षा ग्रहण करने के लिये ही जा रहे हैं। वह सोचने लगा कि—'यह तो मेरी मजाक का बहुत गंभीर परिणाम निकला। ऐसा विचार कर वह श्री वज्रबाहु से कहने लगा कि—'हे स्वामिन्!'

अब कुमार के बदले स्वामिन् कहकर नम्रता से बात करने लगा। कि—"आप आप दीक्षा ग्रहण न करें। आपको जो कुछ मैंने कहा वह तो मजाक थी। मेरी इस मजाक को धिक्कार हो।"

'हम दोनों ने जो बातें कीं वह तो केवल मजाक के रूप में थी। मजाक की बातें सत्य नहीं होती अर्थात् मजाक में दिये हुवे वचन का उल्लंघन करने में कोई दोष नहीं होता।'

"सब कष्टों में मैं आपका सहायक हूँगा, इसलिए आप हमारे कुल के जो मनोरथ हैं उन मनोरथों को मिट्टी में न मिलाइए।"

का महात्मा के पास जाने का मन क्यों हुआ है ? उसने मजाक में श्री वज्रबाहु से पूछा कि "क्या आपका दीक्षा ग्रहण करने का मन हो गया है ?" तुरत ही श्री वज्रबाहु ने उत्तर दिया कि —"दीक्षा लेने का मन तो है ही।" उदयसुन्दर ने श्री वज्रबाहु के इस उत्त का भी उपहास उड़ाया और इसी मजाक में कहने लगा-कि-"कुमार ! यदि दीक्षा लेने का आपका मन हो तो आज ही दीक्षा ले लो जरा भी विलंब मत करो, मैं भी आपको दीक्षा लेने में सहायत करूंगा।" मानो कि वे दोनों एक दूसरे को मजाक के रूप में हरा का प्रयत्न कर रहे हो, श्री वज्रबाहु भी उदयसुन्दर से कहने लगा "जिस प्रकार सागर अपनी मर्यादा को नहीं छोडता, उसी प्रका तुम भी अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहना।"

इस समय भी उदयसुन्दर मजाक में बोल उठा कि-"बिल्कुल ठीक, ऐसा ही होगा।" इस तरह साले बहनोइ के बीच बात चल रही थी और मनोरमा ये बातें चुपचाप सुन रही थी। उनकी बातो के बीच में उसने कुछ भी कहना उचित न समझा। वह बुद्धि मती और विनीता थी। आर्य पत्नी, अच्छे कामों में अपने पति क ही अनुसरण करती है। वह समझती है कि "यदि पति दीक्षा लेते हैं तो मुझे भी दीक्षा लेनी चाहिये और यदि दीक्षा जितनी शक्ति न हो तो सुशीला सती की तरह रहकर जीवन व्यतीत करना चाहिये।" "पति दीक्षा लेंगे तो मेरा क्या होगा ?" ऐसा वह नहीं सोचती, जो होना होगा वह होगा परन्तु ऐसे उत्तम काम में बाधा तो नहीं डाली जा सकती। इसलिए वह नव विवाहित राजकुमारी मनोरम जो अभी सुसराल भी नहीं पहुँची, अपने पति और भाई के बीच जो बातें हो रहीं थीं उनको सुनती रही परन्तु बीच में यह एक शब्द भी नहीं बोली। अब ऐसी घटना हुई कि-श्री वज्रबाहु ने इस पर

उत्तर वार्तालाप में सचमुच दीक्षा लेने का मन में निश्चय कर लिया। वह सोचने लगे कि मुझे यह बहुत ही सुन्दर योग मिला है। इसीलिये उन्होंने साले के सहायक बनने के वचन को पकड़ लिया और सागर जिस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार अपने वचन में दृढ़ रहने की सूचना भी दे दी। ऐसी मनोभावना के साथ श्री वज्रबाहु रथ में से नीचे उतरे, मानो कि वह मोह से मुक्त होने के लिए जा रहे हों। जब श्री वज्रबाहु नीचे उतरे तब मनोरमा और उदयसुन्दर भी नीचे उतर पड़े। अब सारा परिवार वसन्त शैल पर चढ़ने लगा।

श्री वज्रबाहु शान्ति और दृढ़ता से पहाड़ पर चढ़ रहे थे। उन्हें देखकर पहले तो उदयसुन्दर को शङ्का होने लगी परन्तु तत्पश्चात् उसे यह निश्चय हो गया कि कुमार दीक्षा ग्रहण करने के लिये ही जा रहे हैं। वह सोचने लगा कि—'यह तो मेरी मजाक का बहुत गंभीर परिणाम निकला। ऐसा विचार कर वह श्री वज्रबाहु से कहने लगा कि—'हे स्वामिन्।'

अब कुमार के बदले स्वामिन् कहकर नम्रता से बात करने लगा। कि—'आप आप दीक्षा ग्रहण न करें। आपको जो कुछ मैंने कहा वह तो मजाक थी। मेरी इस मजाक को धिक्कार हो।'

'हम दोनों ने जो बातें कीं वह तो केवल मजाक के रूप में थी। मजाक की बातें सत्य नहीं होती अथवा मजाक में दिये हुये वचन का उल्लंघन करने में कोई दोष नहीं होता।"

"सब कार्यों में मैं आपका सहायक हूँगा, इसलिए आप हमारे कुल के जो मनोरथ हैं उन मनोरथों को मिट्टी में न मिलाइए।"

का महात्मा के पास जाने का मन क्या हुआ है ? उसने मजाक में श्री वज्रबाहु से पूछा कि "क्या आपका दीक्षा ग्रहण करने का मन हो गया है ?" तुरंत ही श्री वज्रबाहु ने उत्तर दिया कि —"दीक्षा लेने का मन तो है ही।" उदयसुन्दर ने श्री वज्रबाहु के इस उत्तर का भी उपहास उड़ाया और हंसी मजाक में कहने लगा-कि-"कुमार ! यदि दीक्षा लेने का आपका मन हो तो आज ही दीक्षा ले लो, जरा भी विलम्ब मत करो, मैं भी आपको दीक्षा लेने में सहायता करू गा।" मानो कि वे दोनों एक दूसरे को मजाक के रूप में हराने का प्रयत्न कर रहे हों, श्री वज्रबाहु भी उदयसुन्दर से कहने लगा- "जिस प्रकार सागर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तुम भी अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना।"

इस समय भी उदयसुन्दर मजाक में बोल उठा कि-"बिलकुल ठीक, ऐसा ही होगा।' इस तरह साले बहनोई के बीच बात चल रही थी और मनोरमा ये बातें चुपचाप सुन रही थी। उनकी बातों के बीच में उसने कुछ भी कहना उचित न समझा। वह बुद्धि· मती और विनीता थी। आर्य पत्नी, अच्छे कामों में अपने पति का ही अनुसरण करती है। वह समझती है कि "यदि पति दीक्षा लेते हैं तो मुझे भी दीक्षा लेनी चाहिये और यदि दीक्षा जितनी शक्ति न हो तो सुशीला सती की तरह रहकर जीवन व्यतीत करना चाहिये।' "पति दीक्षा लेंगे तो मेरा क्या होगा ?" ऐसा वह नहीं सोचती, जो होना होगा वह होगा परन्तु ऐसे उत्तम काम में बाधा तो नहीं डाली जा सकती। इसलिए वह नव विवाहित राजकुमारी मनोरमा जो अभी सुसराल भी नहीं पहुँची, अपने पति और भाई के बीच जो बातें हो रही थीं उनको सुनती रही परन्तु बीच में वह एक शब्द भी नहीं बोली। अब ऐसी घटना हुई कि-श्री वज्रबाहु ने इस पर·

परस्पर वार्तालाप में सचमुच दीक्षा लेने का मन में निश्चय कर लिया। वह सोचने लगे कि मुझे यह बहुत ही सुन्दर योग मिला है। इसी लिये उन्होंने साले के सहायक बनने के वचन को पकड़ लिया और सागर जिस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार अपने वचन में दृढ़ रहने की सूचना भी दे दी। ऐसी मनोभावना के साथ श्री वज्रबाहु रथ में से नीचे उतर, मानो कि वह मोह से मुक्त होने के लिए जा रहे हों। जब श्री वज्रबाहु नीचे उतरे तब मनोरमा और उदयसुन्दर भी नीचे उतर पड़े। अब सारा परिवार वसन्त शैल पर चढ़ने लगा।

श्री वज्रबाहु शान्ति और दृढ़ता से पहाड़ पर चढ़ रहे थे। उन्हें देखकर पहले तो उदयसुन्दर को शंका होने लगी परन्तु तत्पश्चात् उसे यह निश्चय हो गया कि कुमार दीक्षा ग्रहण करने के लिये ही जा रहे हैं। वह सोचने लगा कि—'यह तो मेरी मज़ाक का बहुत गंभीर परिणाम निकला। ऐसा विचार कर वह श्री वज्रबाहु से कहने लगा कि—'हे स्वामिन्।'

अब कुमार के बदले स्वामिन् कहकर नम्रता से बात करने लगा। कि—"आप आप दीक्षा ग्रहण न करें। आपको जो कुछ मैंने कहा वह तो मज़ाक थी। मेरी इस मज़ाक को धिक्कार हो।"

"हम दोनों ने जो बातें कीं वह तो केवल मज़ाक के रूप में थी। मज़ाक की बातें सत्य नहीं होतीं अथात् मज़ाक में दिये हुये वचन का उल्लंघन करने में कोई दोष नहीं होता।"

"सब कष्टों में मैं आपका सहायक हूँगा, इसलिए आप हमारे कुल के जो मनोरथ हैं उन मनोरथों को मिट्टी में न मिलाइए।"

इतना कहने पर जब श्री यशबाहु में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं दिया, तब उदयसुन्दर कहने लगा कि—"अभी तो आपके हाथ पर यह मंगल कङ्कन शोभा दे रहा है। आप विवाह के फल स्वरूप भोगों को छोड़ने के लिए तत्काल कैसे तैयार हो गए हैं ?"

तो भी श्री यशबाहु दृढ़ रहे। उनकी यह दृढ़ता देखकर उदय सुन्दर अंत में कहने लगा कि—'यदि आप मेरी बहन मनोरमा का इस प्रकार एक तिनके के समान त्याग कर देंगे तो फिर हे नाथ! सांसारिक सुख के आस्वाद से वंचित रही हुई मेरी बहन किस तरह जीवित रह सकेगी ?'

इस तरह उदयसुन्दर ने जितना कहना चाहिए था वह सब कह दिया। श्री यशबाहु के संकल्प में अल्प मात्र शिथिलता होती तो वह तत्काल अपने निश्चय में परिवर्तन कर डालता, परन्तु वह तो अपने निर्णय पर दृढ़ था। मजाक तो निमित्त मात्र थी परन्तु उसका निर्णय तो हार्दिक एवं समझ पूर्वक था। इसीलिए उस ने उदय-सुन्दर को उत्तर देते हुए सबसे पहली बात यह कही कि "इस मनुष्य रूपी वृक्ष का सुन्दर फल भोग नहीं परन्तु चारित्र है। अर्थात् इस जन्म को पाकर जिसने चरित्र को ग्रहण किया, उसने ही इस जन्म के सुन्दर फल को प्राप्त किया।"

तत्पश्चात् फिर वे बोले कि "ऐसी मजाक करके उसमें खेद करने जैसी कोई बात ही नहीं है, क्योंकि मजाक भी अपने लिए तो परम अर्थ की साधक ही हुई है। जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र में सीप में पड़े हुए वर्षा के पानी का बिन्दु मोती बन जाता है उसी प्रकार

अपनी मनाक भी मनुष्य जन्म के सुन्दर फल को देने वाली सिद्ध होगी।"

इतना कहने के बाद मनोरमा के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए श्री वज्रबाहु ने कहा कि—"तुम्हारी बहन यदि कुलीन होगी तो वह भी दीक्षा ग्रहण कर लेगी। अन्यथा उसका मार्ग कल्याण कारी हो ऐसी मैं इच्छा करता हूँ परन्तु मुझे तो अब भोगों से कोई सम्बन्ध नहीं।' श्री वज्रबाहु ने मनुष्य जन्म के सुन्दर फल की बात की और चारित्र को मनुष्य जन्म के सुन्दर फल के रूप में वर्णन किया। वह सब बातें विचारणीय हैं यह कुटुम्ब कैसे संस्कारों वाला होगा, कैसे आचार विचारों में इनका बचपन बीता होगा? साधु बना जाए ऐसे विचार तो इनके मन में रहते ही होंगे। इतना ही नहीं श्री वज्रबाहु ने मनाक को भी परम अर्थ की साधना के रूप में प्राप्त कर लिया।

उसने मनोरमा के बारे में क्या कहा और किस प्रकार उससे पूछ डाला? क्या मनोरमा की उपस्थिति में साले से ऐसा पूछा जा सकता था? इस रीति से श्री वज्रबाहु ने मनोरमा को भी मार्ग का दिग्दर्शन करा दिया। मनोरमा कुलीन थी, इसलिए "कुलीन होगी तो दीक्षा लेगी, नहीं तो उसका मार्ग कल्याणकारी हो।" इन वचनों को वह शांति से सुन सकी। उसने तो यही निर्णय कर लिया था, परन्तु उसमें थोड़ी भी अकुलीनता होती तो क्या वह ऐसा निर्णय कर सकती थी?

द्रौपदी के पांच पति थे, परन्तु पांचों के साथ भी वह सती कैसी दृढ़ता रखती थी यह जानते हो? अर्जुन की बारी हो तो

भीम या पाचों में कोई दूसरा उस तरफ फड़क भी नहीं सकता था। संयोगवश पांच पति मिले, फिर भी वह सती तरीके जीवित रही क्योंकि वह कुलीन थी।

आज कुलीनता और अकुलीनता जैसी बात दुर्लभ हो गयी है। आज तो वर्ण संकरता ही फल फूल रही है। उससे लेकर अच्छे अच्छे गिने जाने वाले कुटुम्बों में भी आचार विचार का कोई ठिकाना नहीं रहा। आज अनाचार और अश्लील विचारों का साम्राज्य छा गया है। पहले कहा जाता था कि जात बिना भात नहीं हो सकता। कुलीन स्त्री पुरुष के लिए धर्म की प्राप्ति को सुलभ माना गया है और इसीलिए शास्त्रों में भी उत्तम कुल जाति आदि का महत्त्व बताया गया है। ऐसा होते हुए भी पाप के उदय से अकुलीन कुल में जन्मा हुआ और यदि पूर्व जन्म में धर्म करके आया हो और इसके पूर्व के संस्कार यहां जागृत हो जाए तो उसे धर्म की प्राप्ति भी हो सकती है। ऐसी बात नहीं कि हम कुल जाति आदि का प्रभाव मानते ही नहीं परन्तु इस काल में उत्तम गिने जाने वाले जाति कुल में भी पहले जैसे उत्तम संस्कार दृष्टिगोचर नहीं होते क्योंकि आज आचार विचार तथा संस्कार में बहुत उलट फेर हो गया है।

श्री वज्रबाहु ने, उदयसुन्दर की उसकी सब बातों का क्रमसर उत्तर देते हुये अन्त में यह कहा कि—"तुम मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दो और स्वयं भी हमारे मार्ग का अनुसरण करो। हम तो क्षत्रिय हैं। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना क्षत्रियों का कुल धर्म है।"

इस प्रकार श्री वज्रबाहु ने उदयसुन्दर को प्रतिबोध किया। सब लोग पहाड़ पर जहां गुण रूपी रत्नों के सागर ऐसे श्री गुणसागर नाम के महात्मा थे, वहां पहुँचे। गुरु महाराज के पास उन्हें विधिपूर्वक वन्दनादि करके श्री वज्रबाहु ने वस्त्र अलंकार त्याग कर उन के पास दीक्षा ग्रहण की। उनके साथ उदयसुन्दर मनोरमा ने भी सब कुछ त्याग कर सर्व विरति चारित्र अंगीकार किया। साथ में जो पचीस राजकुमार थे उन्होंने भी दीक्षा के मार्ग को स्वीकार किया।

स० वैराग्य बिना ही क्या सबने दीक्षा ले ली ?

नहीं, सबने वैराग्य बिना दीक्षा ग्रहण की, ऐसी बात नहीं है। वैराग्य के भाव तो इन लोगों में विद्यमान ही थे। इस निमित्त के मिलने पर उनके वैराग्य भाव उदीप्त हो उठे। इतना ही नहीं जैन कुल में जिसने जन्म लिया हो और जैन कुल के संस्कार जिसको प्राप्त हुए हों उसमें वैराग्य न हो ऐसा कहा जाता है। अरे, यह संभव नहीं है। जैन कुल में तो मां स्तन पान कराती हुई भी वैराग्य पान कराती है। जैन कुल में वैराग्य के संस्कार गर्भ में ही पड़ जाते हैं ऐसा भी कह सकते हैं। क्योंकि जैन कुल में चलती हुई प्रत्येक बात में सामान्यतः वैराग्य की झलक ।। । है। खाने की बात हो या पीने की, प्राप्ति की बात हो या खो जाने की, भोगोपभोग की बात हो या त्याग तप की, जन्म की बात हो या मरण की, जैन कुल में चलती प्रायः प्रत्येक बात में वैराग्य का कण तो विद्यमान होता ही है।

जैन के वचन सुनकर समझदार व्यक्ति समझ सकते हैं कि— यह वैराग्य का प्रभाव है। आज यह अनुभव विरल बनता जा रहा

है, यह दुर्भाग्य है । बाकी तो पुण्य, पाप, संसार की दुःखमयता, जीवन की क्षणभंगुरता, वस्तुओं की नश्वरता, आत्मा की अमरता और मोक्ष के शाश्वत सुख की चर्चा का असर प्राय कर जैन की प्रत्येक बात में होता है क्योंकि उसके हृदय में यही होता है। संसार के सुख और सांसारिक सुख की सामग्री में बहुत लीन नहीं होना चाहिये, यहां ऐसी बात होती हैं । और यदि ये चली जायें और शोक उपस्थित हो जाय तो शोक करते हुये भी वहां अनित्यता आदि की चर्चा होती है । ये बातें भी वैराग्य के घर की बातें हैं।

पहले पढ चुके हैं कि—'श्री वज्रबाहु ने उदयसुन्दर को सम माते हुये कहा था।' कि—'चारित्र यही मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का सुन्दर फल है।' इस बात का उदयसुन्दर ने भी विरोध नहीं किया। दूसरी बात यह भी है कि—यदि वैराग्य के संस्कार न होते तो जब श्री वज्रबाहु ने मुनि को वदन करने की इच्छा प्रगट की थी, तब मजाक में भी उदयसुन्दर ऐसा प्रश्न न करता कि—'क्या आप दीक्षा ग्रहण करोगे ?' वे कोइ आज के लोगों की तरह दीक्षा के मार्ग का उपहास उड़ाने वाले नहीं थे, यदि दीक्षा के मार्ग का मजाक करने वाले होते तो जैसे यहां सबने दीक्षा ग्रहण करली उसकी जगह कुछ और नया विचित्र तूफान खड़ा हो उठता।

स० अगर मन में वैराग्य की भावना थी तो विवाह करने क्यों गये थे ?

वैराग्य यह मिथ्यात्व का क्षयोपशमादि जनित कार्य है और विरति यह चारित्र मोहनीय का क्षयोपशमादि जनित कार्य है। वैराग्य मिथ्यात्व की मंदता के योग पर जन्मता है अर्थात् पहले गुणठाणे

में रहे हुये मन्द मिथ्या दृष्टियों को भी वैराग्य हो सकता है। सम्यग् दृष्टि में वैराग्य अवश्य होता है। परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है उसमें वैराग्य हो ही नहीं सकता ऐसा नहीं कह सकते। मोक्ष की अभिलाषा, सम्यग्दर्शन के प्रगट होने से पहले भी मिथ्यात्व की मन्दता से उत्पन्न हो सकती है। ग्रन्थि देश से आगे बढ़े हुए परन्तु जिनका ग्रंथि भेद अभी सम्पन्न नहीं हुआ है उन आत्माओं में वैराग्य का भाव और मोक्ष की अभिलाषा प्रगट हो सकती है। जबकि विरति का परिणाम तो पांचवे गुण स्थान से पूर्व नहीं प्रकट सकता। विरति का परिणाम चौथे में भी नहीं हो सकता, क्योंकि यह चारित्र मोहनीय के क्षयोपक्षमादि का विषय है। इसलिये देशविरति का परिणाम जिसमें प्रगट हो चुका हो वह भी विवाह करने के लिए जाय ऐसा हो सकता है, तो फिर चौथे गुण ठाणे में रहा हुआ वैरागी आत्मा और पहले गुण ठाने में रहा हुआ मन्द मिथ्यात्व वाला वैरागी आत्मा विवाह करने जाय तो इसमें आश्चर्य जैसी कौनसी बात है? श्री वज्रबाहु जब विवाह करने गये थे तब उनमें वैराग्य भाव नहीं थे ऐसी बात नहीं है। वे तो थे ही परन्तु ऐसा कह सकते हैं कि—उस समय सर्वविरति के परिणाम को वह प्राप्त नहीं हुये थे और सर्वविरति को प्राप्त कराने वाला प्रबल वैराग्य भाव उनमें विद्यमान नहीं था। तो भी, उनका चारित्र मोहनीय शिथिल तो पड़ा हुआ था। कि जिससे मुनि के दर्शन होने और मजाक की प्रसंग बनने पर वह कम खिसक गया और चारित्र का परिणाम प्रगट हो गया।

स० भवितव्यता वश ऐसा बना, क्या ऐसा कहा जा सकता है?

भाव [illegible] वश सर्वविरति का परिणाम प्रगट हुआ

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अन्दर पुरुषार्थ तो चालू ही था। सुन्दर वैराग्य को धारण करने वाली आत्माओं में विचार करते हुए भी ऐसे विचार उठते हैं कि "मैं कमजोर हूं पराधीन हूं अभी सर्व-विरति का उत्साह प्रगट नहीं हुआ, भोग वास्तव में त्याज्य हैं तो भी मन उस तरफ खिंचता है।" सम्यग् दृष्टि जीव कभी विवाह को अच्छा नहीं समझते "विवाह करना ही चाहिये" ऐसा मानकर वे विवाह करने के लिए नहीं जाते। अविरति की क्रियाएं करते हुए इनके दिल को तो वे तुच्छ ही हैं। संसार के किसी भी कार्य में इनको उपादेय भाव का रस नहीं आता। उनके दिल में उन कार्यों को करते हुए भी हेय भाव का असर बना रहता है। हेयोपादेय का विचार, हेय का त्याग करने का तथा उपादेय को स्वीकार करने का विचार आता ही रहे यह भी पुरुषार्थ है। सम्यग् दृष्टि आत्माओं में ऐसा पुरुषार्थ प्रायः चलता ही रहता है। बात यह है कि वैराग्य होने मात्र से विरति को स्वीकार किया जा सके ऐसा नहीं है। वैराग्य हो और विरति के परिणाम भी प्रकट हों तो ही सच्चे भाव से चारित्र ग्रहण किया जा सकता है। उदयसुन्दर, मनोरमा आदि में भी इस निमित्त से विरति का परि-णाम प्रगट हुआ, अर्थात् इनमें से किसी ने विरति के परिणाम बिना दीक्षा ली ऐसा नहीं कहा जा सकता। वैराग्य बिना और चारित्र के परिणाम के बिना भी दीक्षा लेने वाले हो सकते हैं परन्तु ऐसी आत्माओं के लिये ऐसी कोई कल्पना करनी योग्य नहीं।

इस युग में वैराग्य के संस्कार कितने अधिक सुदृढ़ और विक-सित थे? इस की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह बात दूसरे बनाव से जो तुरन्त बाद घटित हुआ, और भी स्पष्ट हो जाती है। श्री वज्रबाहु आदि ने दीक्षा ग्रहण करली, तब श्री वज्रबाहु के साथ अयोध्या से आया हुआ सेवक परिवार वहां से रवाना होकर

अयोध्या से वापिस पहुच गया। उन्होंने यहां आकर श्री वज्रबाहु के पिता विजय राजा को दीक्षा के समाचार सुनाये। यह सुनकर विजय राजा रोमांचित हो उठे। उनका वैराग्य भाव तीव्र हो गया। वह विचार करने लगे कि—"मेरा लड़का मुझ से भी बढ़कर निकला। वह बालक कितना श्रेष्ठ है और मैं कितना पामर ? वास्तव में बाल वह नहीं मैं हूँ कि जो अभी तक मैं संसार में फसा हुआ हूँ।" ऐसे विचार आते ही विजय राजा ने भी वज्रबाहु से लघु अपने द्वितीय पुत्र को राजगद्दी पर स्थापित कर दिया और स्वयं निर्वाण मोह के महात्मा के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

कैसा था यह कुटुम्ब ? कैसे थे इस कुटुम्ब के संस्कार ? "वज्रबाहु ने मुझ बिना पूछे दीक्षा कैसे ले ली ?" यह विचार जरा भी नहीं आया और उसके स्थान पर ऐसा सोचने लगे कि—"बालक होते हुये भी वह कितना श्रेष्ठ है ?" जब पुत्र ने अच्छा काम बिना पूछे किया हो तो धर्मात्मा पिता तो उसे सुनकर आनन्द अनुभव करे।

म० आज पिता किसकी परवाह रखता है ? ?—

आज उच्च गिने जाने वाले कुलों में भी कैसी स्थिति पैदा होती जा रही है ? यदि पुत्र धर्म करता है या करने को तैयार होता है तो पिता रोकने की कोशिश करता है परन्तु यदि पुत्र धन और भोग के लिये, चाहे जो कुछ करे, तो भी उसका पिता उसे महा अन्याय, अनीति करते हुए नहीं रोकता। पहले उच्च कुटुम्बों में ऐसा समझा जाता था कि—"धर्म करने का मन होना यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। यदि उन्हें यह पता लग जाता कि पुत्र का धर्म करने का

मन हुआ है तो उन्हें बहुत खुशी होती। अपना पुत्र धन, भोग के लिये अन्याय-अनीति के मार्ग पर न चला जाय, इसके लिये वे माता पिता सावधानी रखते थे। आज के कितने पिता पुत्र पर दृष्टि तो रखते हैं परन्तु वह इसलिये कि अपने कमाये हुये धन को वह वृथा खो न डाले। आज अपना पुत्र अपने कमाये हुए धन का सदुपयोग करना चाहे, तो उसे पिता द्वारा सहयोग मिलना कठिन प्रतीत होता है। कई बार टीप चालू होती है तो देखा जाता है कि धनवान पिता छोटी २ रकमों के लिए भी पुत्र की पूछ परछ करता रहता है। कई धर्मशील लड़का को उत्तम मार्ग के लिए छिपा कर व्यय करना पड़ता है और कृपण पिता के कई उड़ाऊ लड़के ऐसे खराब मार्ग में धन को खर्च करते हैं कि पिता से सहन नहीं होता तो भी उसे ये सब सहना पड़ता है। धन के ऊपर अधिक विश्वास है इसलिए ये सब बातें होती हैं। धनवान को धन की लगन होती है परन्तु धर्म की लगन वह अनुभव नहीं करता। यदि धर्म की लगन हो तो हृदय उदारता से भर जाय। उत्तम कार्य करने की भावना जागृत हो जाय।

स० मंदिर-उपाश्रय-तीर्थ में कैसी भावना लेकर जाया जाए ? —

श्रावक प्रात उठकर देव को याद करे, उनको नमस्कार करे। प्रतिक्रमण आदि करना हो तो प्रतिक्रमण आदि करे और उसके बाद मंदिर जाए। देव दर्शन करने के पश्चात् गुरु के पास जाकर वंदन कर फिर घर जाए।

देव और गुरु के पास यह प्राणी क्या जाता है ?

ससार के राग से और ससार के सग से छूटने के लिये।

श्रावक का मन कैसा होता है ? वह देव और गुरु आदि की उपासना करते हुए ससार के राग से और ससार के सग से कब छूटना होगा यह ऐसी भावना करता रहता है। श्रावक तीर्थयात्रा करने जाता है तो उसके मन में इच्छा किसकी होती है, किस भावना को लेकर जाता है ?

वहा जाने से ससार के राग से और ससार के सग से शीघ्र छूटा जा सकता है इस कारण से श्रावक वहा जाता है। ऐसे विचारो को लेकर देव और गुरु के पास जाय या तीर्थ यात्रा करने जाय और उसका ससार के प्रति राग कमजोर नहीं पडे क्या यह कभी सभव है ?

धर्म जानने के लिये आये हुए जीव को साधु महाराज किस क्रम से धर्म स्वरुप बतलाते ? —

धर्म को जानने के लिये जीव जब साधु के पास आए तो वे उसे सर्व प्रथम ससार की असारता बतला देंगे एव उसे सर्व विरति का उपदेश देंगे। धर्म को जानने के लिये आये हुए जीव में सर्वविरति धर्म का स्वीकार करने की शक्ति होगी तो व इसे स्वीकार करने के लिये तत्पर हो जायेंगे पर जिनमें सर्व विरति स्वीकार करने की शक्ति न हो तो वे ऐसा कहेंगे कि— "भगवन् ! वास्तव में धर्म तो यही है। परन्तु मैं इस धर्म का आचरण कर सकूँ इतना मुझमें सामर्थ्य प्रकट नहीं हुआ है। अत आप ऐसा धर्म बताने की कृपा करें कि जिस धर्म का आचरण करते २

सर्वविरति धर्म प्रकट करने का सामर्थ्य प्राप्त हो।" ऐसे जीव को साधु देशविरति का उपदेश सुनाते हैं। इसे सुनकर जीव जो देशविरति धर्म स्वीकार करने को उत्साहित बने तो वह देशविरति धर्म को स्वीकार कर सकता है। उनमें भी जो जीव देशविरति धर्म को स्वीकार करने की शक्ति वाला न हो, तो उस जीव को साधु सम्यक्त्व के आचार आदि बतायेगा। ऐसे भी जीव होते हैं कि जिन जीवों में इतनी योग्यता भी विकसित नहीं हुई हो उन्हें वह मार्गानुसारिता के आचार बतायेगा मार्गानुसारिता के आचार भी ऐसे हैं कि जिन्हें पालते-२ जीव धर्म की प्राप्ति के योग्य बन जाता है।

संसार के सुख के राग पर और इस राग द्वारा जन्मे हुये द्वेष पर द्वेष प्रकट होना चाहिये —

जीव को धर्म प्राप्ति की योग्यता मिलती यह शुद्ध यथा प्रवृत्तिकरण माना जाता है। बहुत कर्मों की निजरा कर चुकने पर जीव को धर्म प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। धर्म प्राप्त करने के लिये भी सबसे पहले ग्रन्थि भेद करना पड़ता है। प्रगाढ राग द्वेष की गाठों को भेदना पड़ता है। अपूर्व-करण बिना यह भेदी नही जा सकती। इस अपूर्व करण को पैदा करने के लिये, जीव को संसार के सुख के राग पर और इस राग द्वारा पैदा हुए द्वेष पर बहुत अधिक द्वेष करना पड़ता है। अभी तक यह जीव संसार के सुख के राग एव दुःख के द्वेष में ही लीन रहा है। 'इस राग में और द्वेष में ही मेरा कल्याण है।' ऐसा इस जीव ने माना हुआ होता है। परन्तु अब उसे यह बोध होता है कि—"राग और

एक स्थान या गुरु के पास विधिपूर्वक ग्रहण किया हो और गुरु से इसका अर्थ समझ कर उसे याद किया हो तो उसे भी पढ़ने बोलने से उसके द्वारा बहुत कर्मों की निर्जरा हो सकती है।

अनिवृत्ति करण से सिद्ध किया जा सकने वाला कार्य—

अब शुद्ध यथा प्रवृत्ति करण द्वारा अतिशय पुण्य प्राप्ति एवं आनन्द का निर्देश करते २ जीव राग द्वेष की ग्रन्थी में पहुँचा और अपूर्व करण द्वारा जीव ने इस ग्रन्थि को भेद डाला। इस ग्रन्थि भेद के साथ ही उसमें ऐसा परिणाम प्रगट होता है कि जो परिणाम जीव को सम्यक्त्व प्राप्त कराये बिना रह नहीं सकता। ऐसे परिणाम का काल भी ज्ञानियों ने अन्तर्मुहूर्त का कहा है। अन्तर्मुहूर्त काल का परिणाम ऐसा होता है कि—इस काल में जीव के मिथ्यात्व का उदय चालू होता है तो भी यह परिणाम जीव को सम्यक्त्व प्राप्त कराये बिना नहीं जाता। इस परिणाम से जीव अपूर्वकरण से गाढ़ राग द्वेष की ग्रन्थि भेदता है उसी प्रकार अनिवृत्ति करण से यह जीव मिथ्यात्व के जो २ दलिये उदय में आने वाले हैं उन २ दलियों को खपाता ही जायगा। इतना ही नहीं परन्तु इस अन्तर्मुहूर्त के बाद के अन्तर्मुहूर्त में आने वाले होते हैं उन दलियों में जितने बन सके उतने दलियों को भी यह जीव इसी अन्तर्मुहूर्त में लाकर खपा देता है। जिन मिथ्यात्व के दलियों को जीव इस तरह एक अन्तर्मुहूर्त पहले उदय में नहीं ला सकता, उन दलियों की स्थिति को बढ़ा देता है कि जिससे इस अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त के बाद का जो अन्तर्मुहूर्त होता है, उस अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व के एक भी दलिये का उदय असम्भवित बन जाता है। यह जो अनिवृत्तिकरण के बाद का अन्तर्मुहूर्त होता है, उस अन्तर्मुहूर्त में जीव का जो परिणाम होता है उस परिणाम को अन्तरकरण नाम से पहचाना जा सकता है।

अन्तर करण से सिद्ध किया जाने वाला कार्य—

इस अन्तर करण का अन्तर्मुहूर्त, यानि ऐसा अन्तर्मुहूर्त कि जिस अन्तर्मुहूर्त में जीव को मिथ्यात्व मोहनीय के दलियों का न तो प्रदेश से उदय होता है और न विपाक से उदय होता है, मात्र सत्ता में ही मिथ्यात्व मोहनीय के दलिये होते हैं। सत्ता में रहे हुये मिथ्यात्व मोहनीय के दलियों की सफाई का कार्य, जीव, इस अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त में करता है। अन्तरकरण द्वारा जीव मिथ्यात्व मोहनीय के दलियों की सफाई का जो कार्य करता है, उसमें सब दलिये साफ नहीं हो जाते, सब दलिये शुद्ध नहीं बनते। कई दलिये शुद्ध बनते हैं। कई दलिये शुद्धाशुद्ध बनते हैं और और कई ऐसे होते हैं जो अशुद्ध के अशुद्ध ही रहते हैं। इस तरह के दलिये तीन विभागों में विभाजित हो जाते हैं उनमें में से जो दलिये शुद्ध बनते हैं, उन दलियों का समूह सम्यक्त्व मोहनीय का पुंज कहलाता है। उनमें से जो दलिये अर्ध शुद्ध अथवा शुद्धाशुद्ध बनते हैं, उन दलियों के समूह को मिश्र मोहनीय का पुंज कहते हैं और बाकी रहे हुये अशुद्ध दलिये मिथ्यात्व मोहनीय के पुंज कहलाते हैं।

सं० यह परिणाम कैसा होता होगा ? —

यह परिणाम कैसा होता होगा, यह तो ज्ञानी ही जान सकते हैं। ऐसा कहा जाता है कि—ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है जिसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता। इतनी कल्पना जरूर हो सकती है कि—मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जो परिणाम जगे उससे बिलकुल उल्टे स्वरूप का यह परिणाम होता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म के त्याग स्वरूप उसी प्रकार सुदेव, सुगुरु और सुधर्म

स्वीकार स्वरूप ये परिणाम होता है क्योंकि मिथ्यात्व मोहनीय का उस समय प्रदेशोदयेय भी नहीं और विपाकोदयेय भी नहीं होता। उस समय मोक्ष के शुद्ध उपाय अनुरूप ही परिणाम हो तथा मिथ्यात्व मोहनीय के सत्तागत दलिये शुद्ध कर सकते हैं।

इस तरह अनिवृत्तिकरण द्वारा जीव जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के अंत मुहूर्त के अंत में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गल यदि जीव को उदय में आ जाते हैं तो वह जीव सम्यक्त्व को उड़ा देता है और प्रथम गुणस्थानवर्ती हो जाता है। परन्तु मिथ्यात्व मोहनीय की बजाय यदि मिश्र मोहनीय उदय में आ जाये तो वह जीव चतुर्थ गुण स्थानक से हट कर तृतीय गुण स्थानकवर्ती बन जाता है। उसके बाद प्रथम गुणठाणे में वापस आ जाता है अथवा चौथे गुण ठाणे में वापस आ जाता है। अब जिस जीव को मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उदय में न आवे परन्तु सम्यक्त्व मोहनीय ही उदय में आवे, वह जीव औपशमिक सम्यक्त्व में से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला कहा जाता है। इस तरह से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, पहली बार यदि सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो वह औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है और बाद में तत्काल वह जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। यदि यह जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के परिणाम में बराबर सुदृढ़ बना रहे और उसे प्रथम संहनन आदि सामग्री की प्राप्ति हुई हो तथा उसे क्षपक श्रेणी को प्राप्त करने के परिणाम भी मिल जाये तो वह जीव क्षपक श्रेणी में चढ़कर अनंतानुबंधी कषाय की चार और मिथ्यात्व मोहनीय की तीन दर्शन मोहनीय की इन सातों ही प्रकृतियों का संपूर्ण क्षयकरके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

वाला जीव यदि किसी भी तरह सम्यक्त्व के परिणाम को टिकाये रखे, तो जीव क्षायिक सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त कर लेता है। जाव क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर उसी भव में क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। भवान्तर में भी क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। इस तरह जो जीव क्षपक श्रेणी पर आरूढ होता है उस जीव का यदि परभव के आयुष्य का बंध न पड़ा हो तो वह जीव क्षपक श्रेणी के द्वारा में दर्शन मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय करने के पश्चात् क्षपक श्रेणी में आगे बढ कर चारित्र मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का भी सम्पूर्ण रूप से क्षय करके वीतराग दशा को आत्मसात कर लेता है और उसके पश्चात् तुरंत ही ज्ञानावरणीयादि बाकी के तीन घाती कर्मों को भी क्षय करके केवल ज्ञान का अधिकारी बन जाता है। जिस जीव का क्षपक श्रेणी पर आरूढ होने से पहले ही आयुष्य का बंध हो गया हो, वह जीव क्षपक श्रेणी द्वारा केवल दर्शन मोहनीय की ही सात प्रकृतियों का क्षय करके रुक जाता है। इस जीव का क्षपक श्रेणी का परिणाम दर्शन मोहनीय की सात प्रकृतियों के क्षय होते ही भग्न हुए बिना नहीं रहता। ऐसी क्षपक श्रेणी को खंड क्षपक श्रेणी कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उपस्थिति में ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है —

१ क्षपक श्रेणी से तात्पर्य घाती कर्मों की प्रकृतियों का मूल से ही क्षय कर डालने वाली श्रेणी है। इसमें पहले दर्शन मोहनीय की सातों ही प्रकृतियों का क्षय होता है। उनका सम्पूर्ण रूप से क्षय होने के बाद ही चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों का क्षय होता है। वैसे तो मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण रूप से क्षय होने के बाद ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय तीनों घाती कर्मों की

सर्व प्रकृतिओं का सपूर्ण रूप से क्षय होता है। इसलिये जिस जीव को मोक्ष प्राप्त करना हो उस जीव को क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट करना और क्षपक श्रेणी पर आरूढ होना अनिवाय है। चौथे से सातवें गुणस्थानक में रहा हुआ जीव क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो सकता है। क्षपक श्रेणी पर चढने के लिये जिस प्रकार प्रथम सहन नानि सामग्री आवश्यक है उसी प्रकार इसके लिये कम से कम चौथा गुणस्थानक भी आवश्यक है। पहले गुणठाणे में रहा हुआ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व या मतान्तर से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है परन्तु वह जीव सीधा ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता। कदाचित् किसी-जीव विशेष के लिये ऐसा भी हो सकता है कि वह अंतिम भव एव अंतिम काल में अनादिकालीन मिथ्यात्व का त्याग करते हीं क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर उसी समय क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो जावें और क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर चारित्र मोहनीय और बाकी के तीन घाती कर्मों का भी सवथा क्षय कर डाले तथा आयुष्य के अन्त में शेष चार अघाती कर्मों का भी क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो जाते। यह सब कुछ अन्तमुहूर्त काल में ही हो जाये ऐसा भी सभव है। बात इतनी ही है कि तीन प्रकार के सम्यक्त्व, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, में जो क्षायिक सम्यक्त्व है उसे प्राप्त करने के लिये क्षपक श्रेणी पर आरुढ होना आवश्यक है और क्षायोपशमिक की अनुपस्थिति में क्षपक श्रेणी पर आरुढ नहीं हो सकता। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो बहुत बार आता और जाता रहता है परन्तु जो जीव एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त कर चुका है वह तो अर्धपुद्गलपरावर्त्त के भीतर ही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उपस्थिति में क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो कर और क्षायिक सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करके निश्चय मोक्ष का अधिकारी बनता है।

ससार हय प्रतीत हो —

इतना सुनने और समझनेवाले प्राणी को जीवन में कम से कम सम्यक्त्व प्राप्ति का ध्येय तो निश्चित हो ही जाना चाहिये। क्योंकि-सम्यक्त्व ही आत्म कल्याण साधना का मूल है। इसके बिना आत्मा का सच्चा कल्याण हो नहीं सकता।

कोई पूछे कि "प्रति दिन मन्दिर क्यों जाते हो ?"

तो कहो कि-"सम्यक्त्व प्राप्त करना है इसलिये।

'पूजा में इतना समय क्या लगाते हो ?'

"सम्यक्त्व को प्राप्त करना है इसलिये।'

"साधुओं के पास बार २ क्यों जाते हो ? '

"सम्यक्त्व प्राप्त करना है इसलिये।" जितनी भी धर्म [illegible] करते हो यदि कोई उसके बारे पूछे तो कहना चाहिये कि [illegible] सबसे पहले सम्यक्त्व प्राप्त करना है इसलिए मैं ये सब [illegible] हूँ [illegible] ऐसा तुम अपने मन में निश्चय कर लो। फिर जब कोई [illegible] पूछे तो उसे ऐसा जवाब देते जाओ। सभव है कि [illegible] लोग तुम्हें पागल कहें परन्तु ये लोग जब ऐसा [illegible] होना चाहिये।

पागल कहें तो समझो कि धर्म मार्ग [illegible] हूँ :—

करने पड़े तो भी उन्हें आनन्द मनाते हुए नहीं करना चाहिये और संसार को बढ़ाने वाले कामों में यथाशक्य भाग नहीं लेना चाहिये। संसार के काम में रस नहीं लेने और संसार के कामों में भाग नहीं लेने पर संभव है कि स्नेही संबंधी तुम्हें पागल कहें। जब वे तुम्हें पागल कहें तब समझो कि अब मुझ में धर्म आना शुरु हुआ है।" ऐसी बात व्याख्यान में कही गई थी। एक जैनेतर भाई को जो कि सामान्य स्थिति का था, यह ज्ञान पसन्द आयी और वह संसार के कार्यों में उपेक्षा दर्शाने लगा। संसार में रहते हुए घर के आवश्यक काम तो करता था, परन्तु लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि इसको इसमें खुशी नहीं है। ऐसा करते २ इसके घर विवाह का प्रसंग आया। उसने सोचा कि "यह तो संसार बढ़ाने वाला प्रसंग है। क्या मुझे इस कार्य में भाग लेना चाहिए ?" इसलिए वह तो अपने मकान की तीसरी मंजिल पर चढ़कर, द्वार अंदर से बंद कर बैठ गया। उसने यह निश्चय कर लिया कि—"आज मुझे कुछ खाना पीना नहीं। विवाह का कार्य समाप्त हो जाएगा तब नीचे उतरूंगा।" सगे संबंधी सब उसे बुलाने आए। दरवाजा खड़खड़ाने लगे, आवाजें देने लगे। परन्तु वह तो एक ही बात कहता था कि—"ऐसे पाप के काम में मैं भाग नहीं लूंगा।" उन्होंने उसे समझाया परन्तु उसने दरवाजा नहीं खोला। इसलिए सब कहने लगे कि "यह पागल हो गया है, चलो हम तो चलें।" ऐसा कहकर सब नीचे उतर गए। वह तो यह सुनकर बहुत ही आनन्दित हुआ और नाचने लगा। उसे ऐसा लगा कि "इन सबने मुझे पागल कहा, ये साधु महाराज कहते थे उसी प्रकार मुझ में धर्म जरूर आने लगा है। अब मुझे धर्म प्राप्त हो जाएगा।" विवाह का कार्य समाप्त हो गया तब वह नीचे उतरा और सब कार्य पहले की भांति करने लगा, "परन्तु यह पागल हो गया है।" ऐसा सुनने से उसे जो अपूर्व आनन्द हुआ था, उस आनन्द को वह

इस तरह से "हमें सम्यक्त्व प्राप्त करना है, ऐसे भावों में ओत प्रोत हो जाओ और अवसर २ पर यही बात बोलो, तो इससे तुम्हें बहुत लोग पागल भी कहें तो घबराना नहीं चाहिये। अज्ञानी और संसार के रसिक जीवों को धर्मी पागल जैसा लगता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मूल बात तो संसार के राग और संसार के संग के त्याग की है। सम्यक्त्व की सन्मुख अवस्था आते ही संसार का राग पतला पड जाता है। उसके बाद अविरति मंद पड़ने लगती है और वैराग्य बढ़ने लगता है। वैराग्य तीव्र बने तो चारित्रमोहनीय कर्म टूटने लगता है और विरति आने लगती है। तब संसार का राग एवं संसार का संग चला जाता है। विरति मिलती है और उसके परिणाम स्वरूप वीतराग दशा, केवल ज्ञान और मुक्ति प्राप्त होती है। अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त करने का जो मनोरथ होता है उसमें साधुपन वीतराग दशा और मोक्ष प्राप्त करने के मनोरथ का भी समावेश हो जाता है। इसलिए यह निश्चय करो कि धर्म की कोई भी क्रिया सम्यक्त्व की प्राप्ति हेतु ही करेंगे। धर्म के फलस्वरूप दूसरी कोई भी सांसारिक अभिलाषा रखनी नहीं चाहिए। 'मुझे धर्म चाहिए इसलिए धर्म करता हूँ।" ऐसा निश्चय करो।

साधुपन को प्राप्त करने की भावना चाहिए। —

एकांत धर्म तो साधुपने में ही है। उपशम आदि का धर्म तो साधु जीवन में ही पाला जा सकता है। सर्वविरतिधर को धर्मी और देश विरतिधर को धर्माधर्मी कहा गया है। पूरा धर्मी साधुपन के बिना नहीं बना जा सकता। तुम्हें भी तो पूर्ण धर्मी बनना है। धर्म करते हुए मन में ऐसे विचार रखने चाहिये कि शक्ति आ जाए

तो साधुपन प्राप्त किए बिना नहीं रहूंगा, परन्तु अभी यही बोलना चाहिये कि मुझे सम्यक्त्व प्राप्त करना है, सम्यक्त्व को निर्मल बनाना है। सम्यक्त्व को प्राप्त करने की सच्ची भावना में, साधुपन प्राप्त करने की भावना तो होती ही है। ससार के सग को छोड़ने की भावना बिना एव ससार का सग छोड़ने योग्य है, ऐसे विचार आए बिना सम्यक्त्व आ नहीं सकता और इस भावना से विपरीत भावना आने पर सम्यक्त्व टिक नहीं सकता।

अब इन ग्रहों को प्राप्त करना है.—

अब आपकी समझ में आ गया होगा कि धर्म क्रिया में इस लोक के सुख की अभिलाषा नहीं चाहिये, पारलौकिक सुख की अभिलाषा भी नहीं चाहिये, धन, कीर्ति, इस लोक और परलोक के सुख मात्र की इच्छा धर्म करने में नहीं चाहिये। धर्म क्रिया तो सबसे पहले सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु करनी चाहिये। अभी तक यह जीव ससार में क्यों भटकता रहा?

इसलिए कि दुख नहीं चाहिये और सुख चाहिये, यह ग्रह चिपका हुआ था। आज तक सुख भी कैसा मागते रहे? सासारिक, भोगोपभोग का, विषय जनित और कषाय जनित, अब इन ग्रहों के बदले सम्यक्त्व चाहिये, विरति चाहिये। ऐसे ग्रह आने चाहिये कि जिससे ससार से छुटकारा मिले और मुक्ति सुख के भोक्ता बन सकें। यदि यह ग्रह लग जाये तो धन-कीर्ति भोग आदि के लिये धर्म करने की अथवा गतानुगतिक रूप से चलने की आकाक्षा जो प्रविष्ट हो जाती है वह हृदयमन्दिर में उत्पन्न नहीं होगी। बात एक ही है—धर्म क्यों करते हो? तो कहो कि सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिये। कोई यह भी पूछेगा कि बाजार क्यों जाते हो? उसे

कि—"पाप का उदय है। संसार को छोड़ा नहीं जाता, लोग सताते हैं, यदि मेरा सामर्थ्य होवे, तो न बाजार जाऊँ और न इस संसार के काम करूँ। अर्थात मैं जहां भी जाता हूँ मन जगह जाते हुये भी मन में यह अभिलाषा होती है कि कब सम्यक्त्व प्राप्त होगा और कब विरति के परिणाम प्रगट होंगे।"

भगवान की आज्ञा को दृष्टि समक्ष रखो —

यदि तुम ऐसा कहो और लोग पागल समझें, तो तुम्हें दुख तो नहीं होगा। संसार का प्रत्येक कार्य 'पाप का योग है इसलिये करना पड़ता है।" ऐसा कहो तो भी तुम्हें पागलों की गिनती में डाल दें ऐसा भी हो सकता है। ऐसे संसार के रसिक व्यक्ति तुम्हें पागल कहें तो इससे तुम्हारी क्या हानि होती है? अपितु इससे तुम्हारे आस पास का सांसारिक संपर्क कम हो जायेगा। उससे तुम्हें धर्म करने का, तत्त्व समझने का, तत्त्व के स्वरूपों को चिन्तन करने के लिये अधिक समय मिलेगा। हमें दूसरे लोग अच्छा कहें, समझदार कहें ऐसा सुनने की वृत्ति त्याग दो। आज बहुत से मनुष्य स्वार्थ के लिये मुँह पर अच्छा कहते हैं और पीठ पीछे बुराई करते हैं। कितने ही श्रीमंतों को ऐसी कुटेव पड़ गई होती है कि जहां-तहां भी उनकी बातों में हां मिलाने वाले ढूंढते हैं। पुण्योदय हो तो स्वार्थी चापलूस मिल भी जाते हैं। परन्तु इसमें उनकी कितनी हानि होती है? बेचारे कषायों में ही फंसे रहते हैं। कषाय के अति परवश हुए जीवों को यह विचार नहीं आता कि—हमें तो धर्म को धर्म बुद्धि से करना है। संसार का संग छोड़ने योग्य है, ऐसे विचार आए बिना सम्यक्त्व आ नहीं सकता और इस भावना से विपरीत भावना आने पर सम्यक्त्व टिक नहीं सकता।

क्रमश यह आत्मा ऐसी सिद्ध अवस्था म पहुच जाती है कि वहा उसे पुन कर्मों का बध होता ही नहीं।

सम्यक्त्व की दुर्लभता'—

जीव मात्र अनादिकाल से कर्म परम्परा मे वेष्ठित है और इसी कारण उसके लिये सम्यक्त्व दुर्लभ है। 'सम्यक्त्व दुर्लभ है'—यह बात जिस प्रकार सची है, उसी प्रकार सम्यक्त्व को अपने लिये सुलभ बनाये बिना जीव का कल्याण सभव नहीं है—यह बात भी उतनी ही सची है। क्योंकि—'सम्यक्त्व को प्राप्त किए बिना, कोई भी जीव गृहस्थ धर्म या साधु धर्म को उसके वास्तविक स्वरूप में प्राप्त नहीं कर सकता, और धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त किये बिना, कोइ भी जीव, मोक्ष का अधिकारी नहा हो सकता।'

आठ प्रकार के कर्मों की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति का प्रमाण —

अनादिकाल से जीव जिन कर्म परम्परा द्वारा वेष्ठित है, वे कर्म आठ प्रकार के है —ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय; मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ प्रकार के कर्मों के बध के ६ निमित्त हैं। पहला मिथ्यात्व, दूसरा अज्ञान, तीसरा अविरति, चौथा प्रमाद, पाचवा कषाय और छट्ठा योग। मिथ्यात्व आदि, इन ६ निमित्तों मे जीव को प्राय अपने २ परिणाम द्वारा कर्मों का बध होता है। मिथ्यात्वादि के निमित्त द्वारा सचित हुआ कर्म, उत्कृष्ट स्थितिवाला भी हो सकता है और जघन्य स्थिति वाला भी हो सकता है। तीव्र अशुभ परिणामों द्वारा जनित कर्म उत्कृष्ट स्थिति वाला

होता है। आठ प्रकार के कर्मों में सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति समान नहीं होती परन्तु भिन्न २ होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा कोटि सागरोपम प्रमाण हो सकती है, जबकि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कही गयी है। नाम कर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण और आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति म उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम प्रमाण होती है। इस प्रकार के परिणाम से संचित हुए आठ कर्मों में, वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र कर्म की आठ मुहूर्त तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आयुष्य और अन्तराय इन पांच प्रकार के कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र की होती है। यहां यह बात भी ध्यान में रखनी है कि—शुभाशुभ परिणाम द्वारा होने वाले कर्म बंध के सम्बन्ध की ही यह बात है। परन्तु केवलज्ञानियों को जो योग प्रत्ययिक बंध होता है, उस के सम्बन्ध की यह बात नहीं है।

विवेकशील एवं सावधान बनो —

मिथ्यात्वादि के निमित्त से शुभाशुभ परिणामों की तीव्रता एवं मन्दता द्वारा शुभाशुभ कर्मों के संचय की जघन्य स्थिति तो तुम ने समझ ही लिया है। मोहनीय कर्म सित्तर कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाला भी बंध सकता है। इन सबको समझ कर, अशुभ परिणाम प्रगट नहीं हो—तथा यदि अशुभ परिणाम प्रगट हो जाय तो भी तीव्र न बनें इसकी सावधानी रखनी चाहिये। शुभ और शुद्ध परिणाम बने रहें तथा शुभ और शुद्ध परिणाम अधिक तीव्र बनें इसका प्रयत्न करते रहना चाहिये। जैसे २ आत्मा गुण सम्पन्न बनती जाती है, वैसे २ उसके कर्मों का बंध शुभ रूप में अधिक और

अनुभ रूप में कम होता जाता है। इसी प्रकार उसकी निर्जरा का प्रमाण भी बढ़ जाता है।

कर्म स्थिति के घटे बिना ग्रन्थिदेश में नहीं पहुंचा जा सकता —

अनादिकाल से कर्म परम्परा से बद्ध जीव को दुर्लभ सम्यक्त्व कैसे प्राप्त होता है, यह समझने जैसी बात है। जो जीव दुर्लभ सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करते हैं, उनमें पहले उन जीवों की कर्मों की स्थिति बहुत ही घटने लगती है। उसमें सिवाय आयुष्य कर्म के सातों ही कर्मों की स्थिति इतनी कम हो जाती है कि—इन सातों कर्मों में से कोई भी कर्म, एक कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति से अधिक स्थिति वाला नहीं रहता। जब उसमें भी एक पल्योपम का असंख्यातवां भाग जितनी स्थिति और कम हो जाती है तो यह जीव ग्रन्थिदेश में आया हुआ कहा जाता है। सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करने के लिये जिस ग्रन्थि को भेदना अनिवार्य है, उस ग्रन्थि देश तक भी वह जीव नहीं पहुंच सकता जिस जीव की कर्म स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण काल की है या उससे अधिक काल की है।

नदी-घोल-पाषाण न्याय तरीके होती कर्म स्थिति की लघुता —

ग्रन्थि देश में पहुँचने योग्य कर्मस्थिति की लघुता, जीव को अपने इरादे पूर्वक के पुरुषार्थ विशेष से ही प्राप्त होती है—ऐसा नहीं है। अपनी कर्म स्थिति की इतनी लघुता को, जीव, यथा प्रवृत्ति करण

द्वारा नदी-घोल-पाषाण न्याय से प्राप्त करता है। नदियों में अनेक बार बहुत सुन्दर आकार वाले और अतिशय चिकने ऐसे पत्थर प्राप्त होते हैं। इन पत्थरों का, सुन्दर आकार किसी कारीगर ने नहीं बनाया होता अथवा किसी कारीगर ने इन्हें चिकना भी नहीं किया होता। इधर से उधर रगड़ खाने, टकराने से ही ये पत्थर ऐसे सुन्दर आकार वाले और अतिशय चिकने बन जाते हैं। जीव को ग्रन्थि देश तक पहुचाने वाली जो कर्म स्थिति की लघुता होती है, वह लघुता भी इसी तरह से यथा प्रवृत्ति करण द्वारा समाप्त होने लगती है और यही कारण है कि अभव्य जीव और दुर्भव्य जीव भी ग्रन्थि देश तक पहुच सकते हैं। ग्रन्थि देश को प्राप्त हुऐ जीव भी वापस कर्म स्थिति की गुरुता को प्राप्त नहीं होते ऐसा भी नहीं है।

इतनी कर्म लघुता भी महत्व की है —

ग्रन्थि देश पहुँचने जितनी कर्म स्थिति की लघुता को जिस प्रकार भव्य जीव प्राप्त कर सकते हैं उसी प्रकार अभव्य जीव भी प्राप्त कर सकते हैं, तो भी कर्म स्थिति की इतनी लघुता होनी यह बहुत महत्व की बात है। कारण कि भव्य जीव भी ग्रन्थि को भेदने का पुरुषार्थ कर्म स्थिति की लघुता को प्राप्त किये बिना नहीं कर सकता। दूसरी बात यह भी है कि—भगवान श्री जिनेश्वर देवों का फरमाया हुआ श्रुत धर्म और चारित्र धर्म द्रव्य से भी वही आत्मा प्राप्त कर सकता है, कि जो ग्रन्थि देश पहुचने जितनी कर्म स्थिति की लघुता को प्राप्त कर चुका हो। श्री जिनशासन के श्रुतधर्म और चारित्र धर्म के आशिक आचरणकर रहे हुए जीवों के लिये, इतना तो निश्चित है कि उनकी—एक आयुष्य कर्म के सिवाय ज्ञानावरणादि सातों ही कर्मों की स्थिति बहुत ही क्षीण होने लगी है और उन जीवों का एक पल्योपम के असख्यातवा का भाग न्यून एक कोटा-

कोटि सागरोपम जितनी भी कर्मों की स्थिति रहती है। इतना ही नहीं परन्तु जब तक जीव श्री जिन शासन में फरमाये हुये श्रुतधर्म और चारित्र धर्म का आचरण करता है, तब तक यह जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को सञ्चित करता है उन कर्मों की स्थिति भी उससे अधिक नहीं हो सकती।

ग्रन्थि देश को नहीं पाया हुआ जीव श्री नवकार को भी प्राप्त नहीं कर सकता —

परम उपकारी महापुरुष यहां तक फरमाते हैं कि 'जब तक जीव ग्रन्थि देश में आने जितनी लघुता प्राप्त नहीं करता, तब तक जीव श्री नवकार महामन्त्र का उच्चारण तो क्या श्री नवकार महामन्त्र के 'नमो अरिहंताणं' जैसे पहले पद को अथवा तो 'नमो अरिहंताणं' इस पद के 'न' को भी मन्त्र रूप में प्राप्त नहीं कर सकते। ज्ञानियों के इस कथन पर से यह निश्चित है कि—जैन कुल में जो आत्मायें जन्म लेती हैं, वे प्राय ग्रन्थि देश को प्राप्त करने जितनी कम स्थिति की लघुता को पायी होती हैं जो जैन कुल वाले जैन आचार और जैन विचार की दृष्टि से हीन कोटि के भी हो गये हों, तो भी इन कुलों में यदि श्री नवकार मन्त्र का स्मरण चालू हो, तो इन कुलों में प्राय ऐसी ही आत्मायें जन्म लेती हैं कि जिन आत्माओं की कर्म स्थिति ग्रन्थिदेश को प्राप्त करने जितनी लघुता को पा चुकी हो। जो कोई जीव 'नमो अरिहंताणं' बोलने के आशय से 'न' भी बोल सके, वह जीव कर्म स्थिति की इतनी लघुता को प्राप्त किये हुए है, यह ज्ञानियों के कथनानुसार निश्चित रूप में कहा जा सकता है। तदुपरान्त, जब तक जीव, 'नमो अरिहंताणं' बोलने के आशय से 'न' को भी बोल सकता है, तब तक यह जीव, चाहे जितनी उत्कट कोटि के पाप

विचारों में और चाहे जितनी उत्कट कोटि के पापाचारों में रक्त बना हुआ हो, तो भी, वह ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से किसी भी कर्म का संचय नहीं करता, कि जिस कर्म की स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम की अथवा इससे अधिक हो। इसका अर्थ यह है कि-इस जीव में अशुभ परिणाम इतने तीव्र भाव से प्रगट नहीं होते कि जिसमें इस जीव को कोई भी कर्म एक कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति का या इससे अधिक स्थिति का बंध सके। श्री नवकार मन्त्र की प्राप्ति जैन कुलों में सामान्य रीति से सुलभ मानी जाती है, इस लिए जैन कुल में जन्म लेने वाले जीवों के लिये यह बात कही है, वस्तुतः जिस को भी नवकार मन्त्र की प्राप्ति हो, उसकी उत्कृष्ट कर्म स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम से भी थोड़ी कम ही होती है। वह जीव इससे अधिक वाले कर्म को तभी ही संचित कर सकता है कि जब वह जीव श्री नवकार मन्त्र के आंशिक परिचय से भी सर्वथा मुक्त बन जाता है अर्थात् वह जीव जब ग्रन्थि देश से वापस गिर जाता है।

सौभाग्य की सफलता'—

ग्रन्थि देश में आने जितनी कर्म स्थिति की लघुता को प्राप्त हुए सब जीव श्री नवकार मन्त्र आदि को प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा भी नियम नहीं है। नियम तो यह है कि—जो जीव जब तक ग्रन्थि देश आने जितनी कर्म स्थिति की लघुता को पाये नहीं, वह जीव तब तक श्री नवकार मन्त्र आदि को प्राप्त कर सकता नहीं। अर्थात्, ग्रन्थि देश में आये हुये जीवों में से जो जीव श्री नवकार मन्त्र आदि को प्राप्त कर लें, वे जीव कम से कम इतने तो भाग्यशाली हैं कि—जब

वे ग्रन्थिदेश को प्राप्त कराने वाली कर्म स्थिति से उत्कृष्ट कोटि का कर्म स्थिति का उपार्जन ही नहीं कर सकते। ये जीव, इस काल के बीच बहुत आगे न बढ़ सकें ऐसा हो सकता है, परन्तु ये जीव इस काल में ग्रन्थिदेश से दूर भी नहीं जा सकते।

स० जीव ग्रन्थि देश में कितने समय तक रह सकता है? —

ग्रन्थि देश को प्राप्त हुआ जीव, ग्रन्थिदेश में असंख्यात काल तक ठहर सकता है। अन्त में तो यह जीव या तो ग्रन्थिदेश से आगे बढ़ता है और सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपार्जन करता है अथवा पीछे हटने लगता है।

इस बात को लक्ष्य में रखकर, तुम्हें यह विचार करना चाहिये कि—"हम कितने भाग्यशाली हैं? तुम्हें सम्भवतः सम्यग्दर्शनादि गुण प्राप्त न हों-यह हो सकता है परन्तु तुम ग्रन्थिदेश में अवश्य हो पहुंचे हुये हो। तुम्हारे कर्म चाहे कितने बलवान हों, परन्तु तुम्हारे कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम से कम ही है। इसके उपरान्त जो कर्म तुम्हारे नये सचित हो भी रहे हैं, वे कम भी एक कोटाकोटि सागरोपम से अधिक नहीं हो सकते। यह तुम्हारा सामान्य सौभाग्य नहीं है, परन्तु यह सौभाग्य प्राप्त कर इसे सफल करने का विचार करना चाहिये।

तुम अपना सौभाग्य किस में मानते हो?—

तुम्हारे पास लक्ष्मी बहुत हो और उसका प्रवाह भी नदी की धारा के समान तुम्हारी तरफ बह रहा हो, तो तुम समझते

होगे कि—"मैं भाग्यशाली हूँ। तुम्हारा शरीर निरोगी हो और यथेच्छ खान पान करते हुये तथा इच्छानुसार रमण करते हुए तुम्हारा शरीर बलवान बना रहता हो तो तुम्हें लगेगा कि—"मैं भाग्यशाली है। तुम्हें पत्नी अच्छी मिली हो और तुम्हारे अनुकूल बर्ताव करती हो, तो तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है कि "मैं भाग्यशाली हूँ।" सतान भी अच्छी हो, तुम्हारी आज्ञा में चलने वाली हो और लक्ष्मी का अधिक २ उपार्जन करने वाली हो तो तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा कि—"मैं भाग्यशाली हूँ।' लोक तुम्हारा आदर-सत्कार करते हों, तुम जहा जाओ वहा तुम्हारा सन्मान होता हो, कोइ तुम्हारे साथ अनादर पूर्वक व्यवहार न कर सकता हो और तुम्हारे सामने जो कोई आने की कोशिश कर तो उसे दबाने की शक्ति तुम में हो तो तुम समझोगे कि—मैं भाग्यशाली हूँ।' संक्षेप में ऐसा कहें कि, विषय राग जनित और कषायभाव जनित जो-जो इच्छायें तुम्हारे मन म पैदा होती हो, वह सब इच्छाए सफली भूत हो जाती हों तो तुम्हें यह विचार आता होगा कि "सचमुच मैं भाग्यशाली है।" इसमें तुम्हें ख्याल आयगा कि "धम की बात तो रह ही गयी। परन्तु वस्तुत धर्म की बात रह नहीं गयी, क्योंकि-धर्म स्थानों में तुम्हारा कोई सन्मान न हो अथवा धर्म स्थानों में तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हे आदर न मिलता हो, तो ऐसी दशा में तुम जो धर्म किया करते हो उससे तुम अपने आप को भाग्यशाली समझते रहो, यह बात जरा कठिन है। मोटे रूप में कहा जाय तो तुम्हे धर्मस्थानों में भी आदर चाहिये। तुम आदर के पात्र न हो तो भी अगर तुम्हें धर्म स्थानों में आदर मिले, तभी तुम्हें लगेगा कि—"मैं भाग्यशाली हूँ।"

इन सब के सिवाय क्या कोई और भी वस्तु तुम्हें नजर आती है जो तुम्हें भाग्यशाली बनाती हो यदि इन वस्तुओं में ही तुम अपना सब सौभाग्य मानते हो तो सौभाग्य के ये सब निमित्त ही तुम्हें भाग्यहीन बनाये बिना नहीं रह सकते। क्या तुम्हें ऐसा प्रतीत नहीं होता कि जिसमें तुम अपना सौभाग्य मानते हो, उसी में गाढ मिथ्यादृष्टि भी प्राय अपना सौभाग्य मानते हैं। तब मिथ्यादृष्टि की भांति ही यदि तुम अपने सौभाग्य का विचार करो तो तुम्हें जो ये जैन कुलादि सामग्री प्राप्त हुई है, इसका क्या विशेषार्थ हुआ ? "पुण्य से क्या २ मिलता है ?' इस प्रकार का प्रश्न पूछा जाने पर, मिथ्यात्व के रंग में रंगी हुई सुरसुन्दरी ने जो उत्तर दिया था, क्या वह याद है ? तथा इसी प्रश्न के उत्तर में मयनासुन्दरी ने जो उत्तर दिया था, क्या उस का भी ध्यान है ? श्री श्रीपाल के रास का अथवा श्री श्रीपाल के चरित्र का श्रवण तुमने अपने जीवन में कई बार किया होगा। जिन्होंने उस चरित्र का श्रवण कर कुछ चिन्तन मनन किया हो उन्हें ये उत्तर सुन कर भली भांति स्पष्ट हो जायगा कि मिथ्या दृष्टि आत्मा की दृष्टि किस प्रकार के सौभाग्य पर ठहरी होती है और सम्यग्दृष्टि आत्माएँ किस में सौभाग्य मानती हैं ?

शिक्षा और प्रवीणता का अच्छा या बुरा उपयोग संस्कारों पर आधारित है —

सुरसुन्दरी और मयणासुन्दरी, राजा प्रजापाल की पुत्रियें थीं। इन दोनों का पिता एक ही था परन्तु मातायें भिन्न थीं। इन दोनों की भिन्न माताओं के कारण इनके पाठक भी भिन्न थे। सुरसुन्दरी की माता जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि थी, उसी प्रकार उसका पाठक भी मिथ्या दृष्टि था। मयणा सुन्दरी की माता सम्यग् दृष्टि थी उसी प्रकार मयणा सुन्दरी के पाठक भी तत्त्वस्वरूप के ज्ञाता और

सम्यग् दृष्टि थे। मयणासुन्दरी और सुरसुन्दरी ने अपनी-२ माता और अपने २ पाठकों से शिक्षा ग्रहण कर प्रवीणता धारण की थी, परन्तु माता और पाठक की ओर से सुरसुन्दरी एवं मयणा सुन्दरी के परस्पर विरोधी संस्कार प्राप्त हुये थे। इन दोनों को जिस प्रकार के संस्कार मिले थे, उसी प्रकार ही दोनों की शिक्षा और प्रवीणता निष्पन्न हुई थी।

पुण्य से क्या-२ मिलता है ?—

एक बार राजा ने अपनी दोनों पुत्रियों को, अपने २ पाठकों सहित राज सभा में बुलाया। उस समय राजा का विचार अपनी दोनों पुत्रियों की परीक्षा करने का था। अतः उसने दोनों पुत्रियों को एक समस्या पद समाधान हेतु दिया। समस्या पद का अर्थ यह था कि-वे दोनों एक २ ऐसा श्लोक बनावें, कि जिस श्लोक का चौथा पद वह हो कि जो पद राजा ने समस्या पद तरीके दिया था। राजा का दिया हुआ समस्या पद "पुण्य से यह मिलता है।" ऐसे भावार्थ वाला था, इसलिये, पुण्य का योग हो तो जीव को क्या २ मिलता है, इसका वर्णन सुरसुन्दरी को करना था और इसी का वर्णन मयणा सुन्दरी को करना था। राजा के समस्या पाद देते ही, सुरसुन्दरी ने एकदम समस्या की पूर्ति कर दी। सुरसुन्दरी को अपनी चतुराई प्रगट करने की जल्दी थी, कारण कि कुसंस्कारों के योग से उसे उसकी शिक्षा और प्रवीणता का अहंकार हो गया था। 'पुण्य से क्या २ मिलता है ?' इस प्रश्न का जो उत्तर सुरसुन्दरी ने दिया था, उससे राजा तुष्टमान हो गया था और सारी प्रजा भी प्रसन्न हो गई थी, तो वह उत्तर तुम्हें भी अच्छा लगे इसमें आश्चर्य तो नहीं परन्तु सचमुच यह बहुत हुए मन ग्लानि का अनुभव करता है।

क्योंकि राजा आदि जिन लोगों ने सुरसुन्दरी की प्रशंसा की थी वे सब मिथ्यादृष्टि थे। यह बात भूलने जैसी नहीं है। मिथ्यात्व का वासना के कारण सुरसुन्दरी ने अपने सौभाग्य का जिस प्रकार वर्णन किया था उसी प्रकार का मनोभाव उन लोगों की दृष्टि में था। इसी कारण सुरसुन्दरी ने जो उत्तर दिया वह उन्हें रुचिकर लगा।

सुरसुन्दरी ने यह उत्तर दिया था कि—'धन, यौवन, सुविदग्ध पना अर्थात् अधिक प्रमाण में चतुराई, अपने देह की निरोगिता और मन प्रिय सम्बन्धियों से मिलाप, ये सब पुण्य से मिलते हैं। तुम्हें शायद यह महसूस होता होगा कि सुरसुन्दरी के दिये हुए इस जवाब में क्या खराबी है? पुण्य से धन मिल जाय, यौवन मिल जाय, चतुराई मिल जाय, निरोगी शरीर मिल जाय, मन इष्ट सम्बन्धी से मिलाप हो जाय तो फिर और पुण्य से प्राप्त करने योग्य क्या बचता है?

सुरसुन्दरी के दिये हुए उत्तर में रही हुई मिथ्यात्व के संस्कारों की वासना —

सुरसुन्दरी द्वारा कही गयी धन आदि की प्राप्ति, किसी भी जीव को पुण्य के योग बिना नहीं हो सकती, इसमें तो कोई शक नहीं है परन्तु विचारने योग्य बात यह है कि पुण्योदय के योग से प्राप्त हो सकने वाली बहुत सी वस्तुओं में धनादिक वस्तुओं का ही सुरसुन्दरी ने क्या वर्णन किया? सुरसुन्दरी ने जो वस्तुयें बतायीं, उन वस्तुओं की प्राप्ति ही सुरसुन्दरी को अभीष्ट थी, ऐसा इससे ज्ञात पड़ता है। सुरसुन्दरी को पुण्य अच्छा लगता है क्योंकि वह धनादिक की प्राप्ति में निमित्त है। सुरसुन्दरी का उत्तर सत्य परन्तु अच्छा नहीं है। यह सच्चा उत्तर भी, मिथ्यात्व के संस्कारों के प्रभाव

वाला है। सुरसुन्दरी की दृष्टि केवल इस लोक के सांसारिक सुख पर ही केंद्रित है ऐसा लगता है, और पुण्योदय के योग से ये सब वस्तुयें प्राप्त हो जायें, बाद में उसका परिणाम क्या है ?' इसका तो उसे विचार ही नहीं है ? पुण्य को मानते हुये भी परलोक की तरफ दृष्टि डालने का मन न हो तथा इस लोक के सुखों में निमग्न बना रहे, तो क्या यह मिथ्यात्व का प्रभाव नहीं है ? जरा विचार तो करें कि पुण्य के योग से ये सब कुछ मिल तो गया, परन्तु पुण्य समाप्त हो जाने पर नया पुण्य पैदा नहीं हुआ तो फिर क्या होगा ? केवल पुण्य की तरफ नजर हो, मोक्ष की ओर सम्भव है। दृष्टि न भी जाये तो भी यह विचार तो आना ही चाहिये, पुण्योदय से प्राप्त वस्तुयें तो अच्छी लगें परन्तु पुण्य प्राप्ति की अपेक्षा हो तो इससे पुण्य समाप्त हो जायगा और पाप कर्मों का बंध होगा। पुण्योदय के योग से मिली हुयी वस्तुओं से सुख अल्प एवं अल्पकाल के लिए मिलता है, जब कि इस सुख को भोगने के परिणाम स्वरूप दुःख अधिक एवं चिरकालीन प्राप्त होता है। सुरसुन्दरी ने अपने उत्तर में एक भी ऐसी वस्तु का कथन नहीं किया कि जिसके योग से पुण्योदय से प्राप्त धनादिक का सद्व्यय किया जा सके और उससे आत्मिक कल्याण सिद्ध हो सके। तुम भी निम्न २ वस्तुओं के योग में अपना सौभाग्य मानते हो, उन वस्तुओं के लिये इस तरह के विचार करने आवश्यक हैं। अच्छी तरह विचार कर सको, तो सम्भव है कि तुम्हें किसी नई दिशा का आभास हो।

पुण्य से विनयादिक मिलता है ऐसा श्रीमती मयणा सुन्दरी द्वारा दिया हुआ उत्तरः—

सुरसुन्दरी के उत्तर देने के पश्चात् राजा ने मयणासुन्दरी को

भी समस्यापद की पूर्ति करने के लिये कहा। अपने पिता की आज्ञा होने पर उसने भी समस्यापद की पूर्ति की। तत्त्वस्वरूप की ज्ञाता मयणासुन्दरी ने इस समस्यापद की पूर्ति करते हुये बताया कि— 'विनय, विवेक, मन की प्रसन्नता शील से सुनिर्मल देह और मोक्ष मार्ग का मिलाप, ये सब पुण्य से प्राप्त होते हैं।' मयणासुन्दरी का यह उत्तर उसकी माता और उसके पाठक को तो बहुत अच्छा लगा परन्तु राजा तथा एकत्रित हुई प्रजा को विशेष पसन्द न आया। बात भी ठीक है—जिनको सुरसुन्दरी का दिया हुआ उत्तर रुचिकर लगा हो, उनको मयणासुन्दरी का उत्तर कैसे पसन्द आयेगा ? केवल भोग सुख और भोग सुख के साधनों की प्राप्ति में ही आनन्द मानने वालों और इसके योग में ही आनन्द का अनुभव करने वालों को मयणासुन्दरी का जवाब पसन्द न आये तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। राजा आदि लोगों को तो वह उत्तर पसन्द नहीं आया, परन्तु क्या तुम्हें मयणासुन्दरी का उत्तर अच्छा लगता है या नहीं ? इसमें केवल हां कहने की खातिर तुम हां कहो तो इसका कोई अर्थ नहीं। इसमें से तो दिल के बहाव को परखा करना है। इसलिये विचार करना है कि—एक अपेक्षा से सुरसुन्दरी का जवाब भी सच्चा है और मयणासुन्दरी का जवाब भी ठीक है परन्तु इन दोनों में श्रेष्ठ तात्त्विक एवं शिष्टजनों के मन में प्रमोद पैदा करने वाला किसका जवाब है ?

धनादिक अच्छा लगता है परन्तु धनादिक से भी अधिक विनयादिक अधिक अच्छे लगते हैं ऐसा तुम कह सकते हो ? —

तुम यह विचार करो कि सचमुच तुम्हें अच्छा क्या लगता है ? धन पसन्द है या विनय ? दूसरे तुम्हारा विनय करें यह तो तुम्हें

अच्छा लगता है परन्तु तुम दूसरों के प्रति विनय या आचरण करो क्या यह भी तुम्हें अभीष्ट है ? तुम विनय के स्थान विनय कर सको, यह तुम्हें अधिक प्रिय है अथवा धन अधिक प्रिय है ? तुम धनवान बनो- ये तुम्हें अच्छा लगता है ? या तुम विनयवान होओ यह तुम्हें पसन्द है ? शायद तुम ऐसा कहो कि- हमें तो धन भी अच्छा लगता है और विनय भी अच्छा लगता है ।' परन्तु धन और विनय दोनों में से धन पसन्द करोगे या विनय ? इसी तरह, यौवन और विवेक-इन दोनों में से, तुम यौवन पसन्द करोगे या विवेक ? चतुराई और मन की प्रसन्नता में से चतुराई पसन्द करोगे या मन की प्रसन्नता ? निरोगी काया और सुनिर्मल शीलसम्पन्न देह में से, निरोगी काया पसन्द आवेगी या सुनर्मल शील सम्पन्न देह अच्छा लगेगा ? तथा मन प्रिय मिलाप और मोक्ष मार्ग के मिलाप इन दोनों में से, मन प्रिय मिलाप पसन्द करोगे या मोक्ष मार्ग का मिलाप पसन्द आएगा ? तुम यथार्थवादी बनकर ऐसा भी कह सकते हो कि 'मुझे धन अच्छा लगता है परन्तु धन मुझे इतना अच्छा नहीं लगता कि जितना विनय अच्छा लगता है । यौवन अच्छा लगता है, परन्तु इतना अच्छा नहीं लगता जितना कि विवेक, मुझे चतुराई पसन्द है परन्तु इतनी अच्छी नहीं जितनी कि सुनिर्मल शील सम्पन्न देह और मुझे मन प्रिय मिलाप भी अच्छा लगता है परन्तु इतना अच्छा नहीं लगता जितना कि मोक्षमार्ग का मिलाप । यदि तुम सच्ची रीति से इतना भी कह सको तो जरूर ऐसा कहा जा सकता है कि तुम सचमुच यथार्थ सौभाग्य की पहचान करने की योग्यता वाले हो ।

अपने सौभाग्य को पहिचानो'—

वस्तुस्थिति यह है कि- आज तुम लोगों में अधिकतर जिस वस्तु में अपना सौभाग्य मानते हैं उसमें तो प्राय सभी मिथ्यादृष्टि भी

अपने सौभाग्य को स्वीकार करते हैं इसी लिये हमने सुरसुन्दरी को याद किया। सुरसुन्दरी की दृष्टि धनादिक पर केंद्रित हुई थी जबकि मयणासुन्दरी की दृष्टि विनयादिक पर केंद्रित थी। अर्थात् सुरसुन्दरी ने पुण्य से धनादिक मिलता है यह जवाब दिया और मयणासुन्दरी ने पुण्य से विनयादिक की प्राप्ति होनी है यह उत्तर दिया। उसी तरह, तुम अगर अपने आपको भाग्यशाली मानते हो तो तुम्हें क्या २ प्राप्त हुआ है कि जिससे तुम अपने आप को भाग्यशाली समझते हो ? अथवा तो तुम्हें क्या २ मिले जिससे तुम अपने आपको भाग्यशाली मानोगे। आज तुम धनवान हो या न हो, तुम्हें आज जहां तहां आदर मिलता हो या न मिलता हो और स्त्री सन्तानादि तुम्हारे अनुकूल हो या न हो, तो भी तुम भाग्यशाली हो, ऐसा हम तो ज्ञानियों के वचनानुसार कहते हैं, और इस से ही इस वास्तविक और श्रेष्ठ सौभाग्य पर तुम्हारा ध्यान आकर्षित हो, ऐसा करने का हम पुरुषार्थ करते हैं। हमारी अभिलाषा यह है कि तुम्हारा जो सबसे बड़ा सौभाग्य है, वह तुम्हारे अपने ध्यान में आवे और उसके द्वारा तुम अपने प्राप्त सौभाग्य को सफल बनाने वाले बनो।

कर्मस्थिति की लघुतादि रूप अपने सौभाग्य को पहिचानोः—

जैन कुल तुम्हें अपने पुण्य के योग से मिला है। यह तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है। जैन कुल में जन्म प्राप्त करने के योग से, तुम्हें देव रूप पूजने लिये श्री वीतराग परमात्मा का योग मिल गया है, गुरु रूप तुम्हें निग्रन्थ सद्गुरुओं की प्राप्ति हो गयी है और श्री केवलज्ञानी

द्वारा उपदिष्ट धर्माचरण का मार्ग तुम्हें मिल गया है। तुम्हें इतना प्राप्त हुआ है, इसलिये यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुम ग्रन्थिदेश में अवश्य आये हुए हो। तुम्हारे मध्य कई जीव चौथे या पाचवें गुण स्थानक को प्राप्त करने वाले भी विद्यमान हो सकते हैं। तुम्हें चौथा गुणस्थानक या पाचवां गुणस्थानक प्राप्त नहीं हुआ ऐसा हमारा कहने का आशय नहीं है। परन्तु जिसको चौथा या पाचवां गुणस्थानक प्राप्त हो गया है, वह ज्यादा भाग्यशाली है। परन्तु कदाचित् तुम में से कोई चौथे या पाचवें गुणस्थानक को नहीं पाया हुआ हो तो भी वह ग्रन्थिदेश में तो अवश्य आया हुआ है। "तुम्हारे मध्य एक भी जीव ऐसा नहीं है कि जो ग्रन्थिदेश में भी नहीं आया हो।" ऐसा हम कह सकते हैं। यह भी तो बड़ा सौभाग्य है कि तुम में से किसी का भी कोई कर्म एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण या इससे अधिक स्थिति का नहीं है, अर्थात् आयुष्य कर्म सिवाय के सातों कर्मों की इससे जो अधिक स्थिति है वह क्षीण हो गई है। दूसरी सौभाग्य की बात है कि जिस प्रकार कम स्थिति थोड़ा होती जा रही है, उसी प्रकार जिन नए कर्मों का संचय होता है, वे कर्म भी एक कोटाकोटि सागरोपम या उससे अधिक स्थिति वाले हो ही नहीं सकते, परन्तु इससे कम स्थिति वाले ही होते हैं। इस पर से ऐसा आभास होता है कि—तुम सबको इतनी कषाय मन्दता भी प्राप्त हुई यह तीसरा सौभाग्य है पहले गुणस्थानक में रहे हुये सब जीवों के कषाय अनन्तानुबंधी कोटि के ही होते हैं, परन्तु इनमें भी तीव्रता और मंदता की तरतमता तो होती ही है। यदि अनन्तानुबंधी कषाय मन्दता को प्राप्त न हुए हों, तो नये होने वाले ज्ञानावरणादि कर्म लघु स्थिति वाले संचित होने संभव नहीं। कर्मों के स्थितिबंध और रस बंध में प्रधान कारण कषायों का योग है। इसलिये जो तुम भी जिनशासन द्वारा कथित श्रुतधर्म और

चारित्र धर्म की द्रव्य से भी कुछ अंशों में आचरण कर सकते हो, तो इससे ऐसा सिद्ध होता है कि—एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कुछ कम ऐसी जो स्थिति, उससे अधिक स्थिति वाले किसी भी कर्म का तुम उपार्जन नहीं करते हो और इससे यह भी सिद्ध होता है—कि तुम्हारे कषाय भी इतनी मन्दता को अवश्य प्राप्त हो चुके हैं। यह सारा प्रताप जैन कुल में उत्पन्न होने का है। तुम्हें यदि जैन कुल प्राप्त न हुआ होता, तो तुम श्री जिनशासन द्वारा कथित श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की द्रव्य से भी आंशिक आराधना कैसे कर सकते ? जैन कुल मिले बिना ऐसी स्थिति प्राप्त हो ही नहीं सकती ऐसा एकान्त रूप से तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु इस जैन कुल की प्राप्ति में क्या तुम्हें अपना बड़ा सौभाग्य दृष्टिगोचर नहीं होता ?

ग्रन्थि देश को प्राप्त हुए जीव के लिये पुरुषार्थ का अवसर :—

तुम्हें अपने सौभाग्य की यह सब बातें कहकर भी यही समझाना है कि तुम अपने सौभाग्य को सफल बनाने वाले बनो। तुम अपनी सौभाग्य का ऐसा सदुपयोग करने वाले बनो कि जिससे यह उत्तरोत्तर वृद्धि को पाने लगे। ग्रन्थिदेश प्राप्त करने जितनी और उसके साथ श्री जिन शासन द्वारा कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म को द्रव्य रूप में भी कुछ अंश में प्राप्त हुए सद्भाग्य को प्राप्त करने वाली आत्माएं, यदि निश्चय करें तो पुरुषार्थ द्वारा, सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों को प्रगट करने में समर्थ हो सकती हैं, ऐसा यह अवसर है। ऐसे सौभाग्यशालियों के लिये, अर्थात् ग्रन्थिदेश में आकर द्रव्य से श्री जिनधर्म को आचरण करने वाली आत्माओं के लिये, पुरुषार्थ करने के लिए यह सुन्दर अवसर है, यहां आया हुआ जो जीव पुरु-

पार्थ करने को तत्पर बने और पुरुषार्थ करे यह जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जिस सिद्धि को प्राप्त न कर सका था वैसी सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। ग्रन्थिदेश में आया हुआ जीव यदि पुरुषार्थ न कर सके और इस कारण प्रगति न कर सके, तो वह जीव अन्त में असंख्यकाल के पश्चात् वापस गिरे बिना रह ही नहीं सकता। इसलिये इस अवसर पर तुम्हें विशेष सावधान हो जाना चाहिये।

ग्रन्थिदेश से पीछे हटना भी संभव है —

ग्रन्थिदेश में आया हुआ जीव श्री जिनशासन द्वारा कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म के द्रव्याचरण को जरूर प्राप्त हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रन्थिदेश में आने के बाद भी जीव श्री जिनशासन द्वारा कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म के द्रव्याचरण को प्राप्त न कर सके यह संभव है। नियम यह है कि जिनशासन द्वारा कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म के आंशिक द्रव्याचरण को भी वही जीव प्राप्त कर सकता है कि जो ग्रन्थिदेश में आया हुआ हो। ज्ञानियों के ऐसे कथन के आधार पर ही यह बात, हमने निश्चित की कि—श्री जिन कथित धर्म का तुम द्रव्य थोड़ा भी आचरण कर सको तो यह सूचित होता है कि तुम ग्रन्थिदेश में तो अवश्य आये हुए हो। ग्रन्थिदेश में आकर श्री जिन शासन में कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म के द्रव्याचरण को पाया हुआ जीव प्रगति ही करे—ऐसा नियम नहीं है। अभव्य और दूर्भव्य भी जिन शासन में कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म के द्रव्याचरण को प्राप्त कर सकते हैं, और इससे यह सिद्ध होता है कि—जीव ग्रन्थिदेश को प्राप्त करने पर भी और ग्रन्थिदेश प्राप्त कर श्री जिनशासन में कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म के द्रव्याचरण को प्राप्त करने पर भी, प्रगति न कर सके और परिणाम स्वरूप पीछे

हटने वाला अथात नीचे गिरने वाला बने, यह भी शक्य है इससे, यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि—श्री जिनशासन में कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म के द्रव्याचरण को प्राप्त हुये जीवों को तो खूब सावधान बन जाना चाहिये, कारण कि यदि प्रगति करने का मन हो, तो प्रगति के लिए यह सुन्दर अवसर है और यदि यह अवसर खो दिया, तो ऐसा अवसर पुन कब प्राप्त हो—यह तो ज्ञानी ही कह सकते हैं। परन्तु सामान्य रीति से यह कहा जा सकता है कि ऐसा सुअवसर खो देने वाले जीव को पुन बहुत लम्बे समय तक ऐसा अवसर प्राप्त न हो सके तो इसमें कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है।

काल की परिपक्वता की उपेक्षा —

ग्रन्थिदेश में आये हुए जीवों को अपने सौभाग्य को सफल बनाने, हेतु सबसे पहला पुरुषार्थ तो ग्रन्थि को भेदने के लिये करना होता है। जब तक ग्रन्थि भेद नहीं हो जाता तब तक उत्तरोत्तर प्रगति करना शक्य हो ही नहीं सकता। यह ग्रन्थिभेद होने में काल की परिपक्वता भी अपेक्षित रहती है। चरमावर्त्त को प्राप्त हुए जीव को, अथात् कि जिस जीव की मुक्ति एक पुद्गलपरावर्त्त काल के अन्दर २ हो हो जाती है उसी जीव को मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है। एक पुद्गलपरावर्त्त काल या इस से अधिक काल पर्यन्त यदि जीव का संसार में परिभ्रमण शेष हो तो उस जीव को मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा भी जागृत नहीं होती। मोक्ष की इच्छा केवल चरमावर्त्त काल को पाये हुए जीवों को ही हो सकती है। मोक्ष की इच्छा प्रगट होने के बाद तुरन्त ही ग्रन्थि भेद हो जाय और सम्यक्त्वादि की प्राप्ति हो जाय ऐसा भी एकान्त नियम नहीं। मोक्ष की इच्छा प्रगट हुई हो, तो भी जीव का संसार परि-

भ्रमण काल पत्र अर्द्ध पुद्गलपरावर्त्त से भी कुछ न्यून हो, तो तभी यह जीव ग्रंथि भेद कर सकता है। और सम्यग्दर्शनादि को प्राप्त कर सकता है, अर्थात ग्रन्थिभेद होने में काल की परिपक्वता की अपेक्षा भी रहती ही है।

मोक्ष की इच्छा नहीं इसलिये अभव्य या दुर्भव्य है"
ऐसा नहीं कह सकते —

जिस जीव में मोक्ष की इच्छा उत्पन्न हुई है वह जीव चरमावर्त्त को प्राप्त हुआ है, और जो जीव ग्रन्थिभेद कर सके वह जीव चरमअर्द्ध पुद्गलपरावर्त्त में भी कम काल में मोक्ष प्राप्त कर लेगा ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है, परन्तु ऐसे भी भव्य जीव होते हैं कि जो जीव चरमावर्त्त काल को अथवा तो चरमार्द्ध पुद्गलपरावर्त्त काल को पाये होते हैं तो भी उन्हें मोक्ष की इच्छा उत्पन्न नहीं होती हो, और सम्भवत मोक्ष की इच्छा हुई भी हो, तो भी वे ग्रंथि भेद को प्राप्त न हुए हों। ऐसा होते हुये भी इन जीवों को इस काल के अन्तिम भाग में मोक्ष की इच्छा होनी, ग्रंथिभेद होना, सम्यग् दर्शनादि गुणों की प्राप्ति और इन गुणों के बल पर अपने सकल कर्मों का क्षय कर मोक्ष जाना, यह निश्चित बात है। इसलिये किसी जीव में मोक्ष की इच्छा न प्रकट हुई हो तो भी उसे अभव्य या दुर्भव्य नहीं कहा जा सकता। जिसमें मोक्ष की इच्छा न प्रगटे, वह अभव्य—ऐसा नहीं, परन्तु कभी भी मोक्ष की इच्छा प्रगट करने की योग्यता जिस जीव में नहीं, वह जीव अभव्य है। मोक्ष की इच्छा जिसमें प्रगट हो सके ऐसी योग्यता वाला जीव भव्य स्वभाव का कहलाता है, परन्तु जब तक वह जीव चरमावर्त्त काल को प्राप्त नहीं ... जब तक वह जीव काल की

को प्राप्त नहीं होता, तब तक वह दुर्भव्य कहलाता है। जो जीव काल की परिपक्वता को अवश्य प्राप्त होने वाले हैं परन्तु अभी काल की परिपक्वता प्राप्त नहीं हुए, वे जीव दुर्भवी कहलाते हैं। जाति भव्य जीवों की तो बात करनी व्यर्थ है, कारण कि उन जीवों में मोक्ष की इच्छा प्रगट हो सके ऐसी स्वाभाविक योग्यता अवश्य है, तो भी इन जीवों में कभी भी मोक्ष की इच्छा प्रगट हो सके, ऐसी सामग्री हुई प्राप्त ही नहीं हो सकती। भवितव्यता के प्राबल्य की बात में यह भी एक बड़े महत्व की बात है। भव्य जीवों को सत्पुरुषार्थ की प्रेरणा देन की भी भवितव्यता में अद्भुत शक्ति रही हुई है, कारण कि ऐसी सामग्री का भव्य जीवों को सुयोग मिलने में उनकी भवितव्यता की भी अनुकूलता मानी जाती है। अब तो पुरुषार्थ करने की बात बाकी रह जाती है।

यह पुण्य बंध प्रशसनीय नहीं —

इन सब बातों को सर्वज्ञ सिवाय कोई स्वतन्त्र एवं सत्य रूप से कथन नहीं कर सकता। काल की परिपक्वता को प्राप्त करने अनुरूप योग्यता ही जिन में स्वाभाविक रीति से प्रकट नहीं हो सकती। ऐसे अभव्य जीव, काल परिपक्वता को प्राप्त करने जिनकी स्वाभाविक योग्यता तो जिनमें है। और इससे वे काल की परिपक्वता को प्राप्त करने वाले हैं, पर तु अभी जो काल की परिपक्वता को प्राप्त नहीं हुए हैं। ऐसे दुर्भव्य जीव, तथा काल जिनमें परिपक्वता को प्राप्त करके भी जिनमें अभी मोक्ष की इच्छा पैदा नहीं हुई है-ऐसे भव्य जीव, इन तीनों प्रकार के जीवों को यथाप्रवृत्ति करण नाम के आत्म परिणाम द्वारा ग्रन्थिदेश में आने जितनी कर्म स्थिति की लघुता प्राप्त हो सकती है और ये जीव, श्री जिनशासन में कथित श्रुत व चारि-

शात्मक धर्म के द्रव्याचरण को भी प्राप्त कर सकते हैं । इनमें से जो भव्य जीव, मोक्ष की इच्छा को प्राप्त हो जाय उनकी बात तो भिन्न है, परन्तु इनके अतिरिक्त अभव्यादि जीव जो धर्माचरण करते हैं । इससे उनको पुण्य बंध तो अवश्य होता है परन्तु यह पुण्य बंध प्रशंसनीय नहीं होता । ये जीव पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं और इस पुण्य के उदय य ग से वे देवलोक के सुखों को भी प्राप्त कर सकते हैं । इन जीवों से जितने जीव तो अधिक पुण्य उपार्जन कर नवम ग्रैवेयक देवलोक तक भी पहुँच जाते हैं । श्री जिनेश्वर देव द्वारा कथित श्रुत चारित्रात्मक धर्म की द्रव्याचरण मात्र से भी, देव गति के इतने ऊँचे सुख को जीव प्राप्त हो जाये, यह शक्य है, परन्तु यह प्राप्ति विवेकी जीव को आकर्षक नहीं हो सकती। मोक्ष के लिये कहे गये इन अनुष्ठानों का इतनी हद तक पालन करते हुये भी, इन आचरण करने वाले जीवों में मोक्ष की इच्छा उत्पन्न न हो, यह कोई सामान्य बात नहीं है । ऐसी दशा में तो यह समझना चाहिये कि—मिथ्यात्व मोहनीय के गाढ़ आवरण का यह प्रताप है। इसी प्रकार मोक्ष की इच्छा न होने से और संसार के सुखों की इच्छा होने से, धर्माचरण करते हुए भी इन जीवों का मिथ्यात्व मोहनीय कर्म तीव्र बनता जाता है ।

सुख में भी अशान्ति :—

ऐसी दशा के कारण स्वयं को मिले हुए देवगति के सुखों को भी ये जीव भोग नहीं सकते और असंतोष एवं ईर्ष्या आदि के कारण ये अशान्ति का निरन्तर अनुभव करते रहते हैं । इन जीवों को संसार के सुख का राग इतना गाढ़ होता है कि इन जीवों को स्वयं भगवान श्री जिनेश्वर देवों आदि का योग एवं उनकी देशनादि

जोर से लकड़ी आदि पर कभी नहीं किया हो। इनके इस तीव्र प्रहार से गांठ कट भी सकती है। कर्मग्रन्थि को भेदने के सम्बन्ध में भी लगभग ऐसा ही क्रम होता है। कर्मग्रन्थि देश में पहुँची हुई आत्माओं में कई आत्मायें यहां ही अटक जाती हैं और फिर वापस गिर जाती हैं। कई आत्माएं पीछे गिर कर भी पुनः कर्मग्रन्थि देश में आती हैं और ग्रन्थि देश में आकर कर्म ग्रन्थि को भेदने का पुरुषार्थ करती हैं। कई आत्मायें ऐसी भी होती हैं कि जो ग्रन्थि देश में आकर अनुकूलता प्राप्त होते ही ऐसी पुरुषार्थशील बन जाती हैं कि वे कर्म ग्रन्थि को भेदे बिना, और कर्म ग्रन्थि को भेदकर अपने सम्यग् दर्शन गुण को प्रगट किये बिना नहीं रहतीं।

कर्म ग्रन्थि उत्पन्न नहीं होती परन्तु प्रगट होती है —

यह कर्मग्रन्थि, जीव मात्र के साथ अनादिकाल से होती है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थिति अधिक अंश में घट जाने से कर्म ग्रन्थि उत्पन्न नहीं होती, परन्तु प्रगट होने लगती है। जब तक ज्ञानावरणादि सात कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम की अथवा इससे अधिक होती है, तब तक तो यह जीव अपनी इस कर्मग्रन्थि को जानने के लिये भी समर्थ नहीं बन सकता। क्योंकि यह बहुत अधिक गूढ होती है। जब जीव के ज्ञानावरणादि सात कर्मों की स्थिति क्षय होते २ एक कोटाकोटि प्रमाण में से भी एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक क्षय हो जाये, तब ही जीव अपनी इस कर्मग्रन्थि को जानने के लिये समर्थ हो सकता है। इतनी कर्म स्थिति कम हो जाने के पश्चात् सभी जीव अपनी इस कर्मग्रन्थि को पहचान सकें ऐसा भी संभव नहीं है। ज्ञानी भगवंत फरमाते हैं कि—जीव की इतनी भी

जो कर्म स्थिति क्षय होती है, वह उसके अपने परिणाम से ही क्षय होती है, परन्तु इन परिणामों को जीव ने समझ पूर्वक पैदा नहीं किया होता। जीव के परिश्रम विशेष बिना ये परिणाम पैदा हो गये होते हैं। इसीलिये इन परिणामों को यथाप्रवृत्ति करण कहते हैं। नदी में रगड खाते २ जिस प्रकार पत्थर सुन्दर आकृति वाले और बहुत चिकने हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी रगड खाते २ अपने को प्राप्त हुई अवस्थादि के अनुसार उत्पन्न होते हुये परिणाम स्वरूप, इतनी लघुता वाला बन जाता है। जीव जब कर्म स्थिति की इतनी लघुता को प्राप्त होता है, तब कर्म ग्रन्थि आती है अर्थात् तब अपनी इस कर्मग्रन्थि को जाना सकता है। यह वही जीव जान सकता है कि जो जीव अपनी कर्मस्थिति की इतनी लघुता को प्राप्त कर चुका हो।

संसार की निर्गुणता के विचार एवं धर्म श्रवणेच्छा आदि से होने वाले परिणामों की शुद्धि —

कर्म स्थिति की इतनी लघुता प्राप्त होने पर, जीव को पुरुषार्थ की आवश्यकता पडती है। अभी तक तो अधिक पुरुषार्थ किये बिना ही, सामग्री आदि के अनुसार पैदा होते हुए यथा प्रवृति करण से कर्म स्थिति क्षय होती गयी, परन्तु इस प्रकार का यथा प्रवृति करण बाद में जीव को प्रगति शील बनने में कारण रूप नहीं बन सकता। आगे तो जीव की ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह कर्मग्रन्थि को भेदे तब ही उसकी प्रगति सुन्दर बन सकती है और यह ग्रन्थिभेद अपूर्व करण द्वारा ही शक्य है। अपूर्व करण अर्थात् आत्मा का अपना इस प्रकार का शुभ और तीव्र परिणाम कि जैसा शुभ और तीव्र परिणाम, अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुये इस

जीव में, पहले कभी प्रगट ही न हुआ हो। यथा प्रवृति करण द्वारा कर्म स्थिति क्षय होने के कारण कर्मग्रन्थि के बिल्कुल समीप आ पहुँचे हुए जीव को कर्म ग्रन्थि को भेद डालने के लिये, इस अपूर्व करण को उत्पन्न करना ही पड़ता है। इस अपूर्व करण को उत्पन्न करने हेतु पुरुषार्थ परिणाम को भी यथाप्रवृति करण ही कहते हैं। परन्तु इस यथा प्रवृति करण को जीवस्व अपने पुरुषार्थ से पैदा करता है। इसे शुद्ध यथा प्रवृत्ति करण के रूप में भी पहचान सकते हैं। कर्म ग्रन्थि तक पहुंच चुके जीव को ससार की निर्गुणता का विचार होना शक्य है। कर्मग्रन्थि तक पहुँचे हुए जीवों में से जिन जीवों को संसार की निर्गुणता का विचार होने लगता है उन जीवों में क्रम से मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होनी शक्य है। ससार के प्रति अरुचि का भाव और मोक्ष के प्रति रुचि उत्पन्न होने पर जिस जीव को धर्म जानने की इच्छा प्रगट हो जाये, वह जीव धर्मदाता सद्गुरुओं के पास जाकर धर्मश्रवण करने का अभिलाषी होता है। धर्मश्रवण कर उस स्वरूप आदि के चिन्तन और मनन करने की इच्छा की उत्पत्ति उसके अपने पुरुषार्थ द्वारा होती है और इस पुरुषार्थ के बल स्वरूप अपने परिणामों का शुद्धिकरण करते हुए जीव अपूर्व करण को भी प्राप्त कर लेता है।

क्या धर्म श्रवण मोक्ष के उपाय को जानने के आशय से किया जाता है ?—

तुम सब कर्म ग्रन्थिदेश में तो आ ही चुके हो और यहां पर उपस्थित महानुभावों को धर्मश्रवण का योग भी मिल चुका है। अब तो यह विचार करना है कि—यहां जो कोई श्रवण करने के लिये आता है, वह धर्म का ही श्रवण करने के लिये आता है या

नहीं ? श्रवण करने के लिये आने वाले, धर्म के स्वरूपादि को जानने की इच्छा वाले हैं या नहीं ? धर्म के ही स्वरूप को जानने की इच्छा, मोक्ष के उपाय को जानने की इच्छा के रूप में है या किसी और आशय से यह इच्छा उत्पन्न हुई है ? क्या संसार की निर्गुणता का तुम्हें कुछ भान में भी सच्चा विचार होने लगा है ? संसार की निर्गुणता का थोड़ा भी सच्चा भान होने से क्या तुम्हें संसार के प्रति अरुचि का प्रभाव प्रकट हुआ है ? क्या संसार से विपरीत मोक्ष का रुचि उत्पन्न हुई है, और क्या तुम अपनी इस रुचि को सन्तुष्ट करने हेतु संसार से छुड़ाने वाले और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले धर्म को जानने की इच्छा से यहां श्रवण करने के लिये आते हो ? यहां श्रवण करने के लिये आने में तुम्हारा मोक्ष के उपाय रूप धर्म के स्वरूपादि को जानने का आशय भी हो सकता है, संसार के सुख की सिद्धि का आशय भी हो सकता है अथवा गतानुगतिक रूप से तुम आते हो—ऐसा भी हो सकता है।

धर्म श्रवण का परिणाम कैसा हो ?:—

मोक्ष के उपाय रूप धर्म के स्वरूपादि को जानने की इच्छा में, इस उपाय के यथाशक्य आचरण की इच्छा का भी समावेश हो जाता है। तुम जैसे २ जानते जाते हो, वैसे २ तुम्हें मोक्ष के लिये आचरण का विचार और प्रयत्न आदि भी होना चाहिये। मोक्ष मार्ग को जानने के साथ उसका आचरण भी सभी कर सकें ऐसा कोई नियम नहीं परन्तु मोक्ष की रुचिवाले को मोक्ष का उपाय जैसे २ जानने को मिलता है वैसे २ उसकी उस उपाय का आचरण की अभिलाषा तो जागृत होती ही है। पहले तो ऐसा लगता है कि—केवल यही आचरण करने योग्य है और इसके विपरीत जो कुछ है

यह करणीय नहीं ।' बाद में विचार आता है कि—'अभी जो करने योग्य नहीं है उसे करना छोड़ सकूं ऐसी स्थिति में मैं हूँ अत जो आचरण योग्य है उसे मैं जीवन में उतार डालू ।' इसके साथ फिर यह निर्णय भी होता है कि—'छोड़ने लायक सबको छोड़ सकू ऐसा तो हो नहीं सकता और करने योग्य सबको कर सकू ऐसा भी अभी सभव नहीं । मैं तो जितने प्रमाण में शक्य हो, उतने प्रमाण में हेय को त्याग दू और उपादेय का आचरण करू ।' यह निर्णय करके जीव, ऐसे प्रयत्न में लग भी जाता है । इस तरह जीव यदि थोड़े भी हेय का त्याग और उपादेय का आचरण करने लगे तो उसमें भी यह बारम्बार यह विचार बनाये रख कि-'मेरे इस धर्माराधन से मुझे ऐसी अनुकूलता प्राप्त हो, कि जिस अनुकूलता के मिलने ही मैं स छोड़ने योग्य को सर्वथा त्याग सकू और सर्व करने योग्य का एक त आचरण करने वाला बन जाऊँ ।"

कर्मग्रन्थि भेद में तथा अपूर्वकरण प्राप्ति के सम्बन्ध

तीन बातो का निर्णय—

इस प्रकार के धर्म श्रवण से परिणामों की उत्तरोत्तर शुद्धि अपूर्वकरण की प्राप्ति की अधिक सभावना है । तुम्हारा धर्मश्रव इस प्रकार का है या नहीं, इसका विचार तुम्हे करना चाहिये । यदि तुम्ह अपने सौभाग्य को सफल करना हो, तो तुम्हें यह विचार अवश्य करने चाहियें । अब हम अपूर्व करण सम्बन्धी विचार करते हैं । पहले हम विचार कर चुके हैं कि शुद्ध यथा प्रवृति करण भी जीव के अपने पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है और शुद्ध यथा प्रवृत्ति करण को प्राप्त करने वाला जीव अपने पुरुषार्थ के बल से ही अपूर्वकरण

को प्रकट कर सकता है। तुम्हारी कर्मग्रन्थि का भेद न हुआ हो तो भी तुम्हारी इस कर्म ग्रन्थि को भेद डालने की इच्छा तो होगी? जिसे अपनी कर्मग्रन्थि का भेद कर डालने की इच्छा हो उसमें अपने अपूर्व करण को प्रगट करने की इच्छा भी होगी] अत अब यह विचार करना है कि वीर्य की कर्मग्रन्थि को भेद डालने वाले अपूर्व करण का स्वरूप कैसा होता है? कर्मग्रन्थि, यह भी आत्मा का परिणाम स्वरूप है और इस कर्मग्रन्थि को भेदने वाला जो अपूर्व करण नामका अध्यवसाय होता है वह भी आत्मा का परिणाम विशेष ही होता है, इसलिये एक परिणाम द्वारा दूसरे परिणाम को तोड़ने की बात है। कर्मग्रंथि रूपी आत्म परिणाम तो आत्मा में रहा हुआ है। अनादिकाल से इसका अस्तित्व है। अब इस अनादिकाल से अस्तित्व पाये हुए परिणाम को जीव ने तोड़ डालना है। उसके लिये अपने पुरुषार्थ से जीव को अपने अन्दर ऐसे परिणाम उत्पन्न करने चाहियें, जो कि कर्मग्रन्थि रूपी आत्म परिणाम से बिलकुल विपरीत कोटि के स्वरूप वाले हों, इतना ही नहीं, परन्तु कर्मग्रन्थि के परिणाम की तीव्रता से भी अधिक तीव्रता वाला, यह विपरीत कोटि का परिणाम होना चाहिये।

हमने तीन बातें निश्चित की हैं—उनमें पहली बात यह है कि—कर्मग्रन्थि रूपी आत्मा के एक प्रकार क परिणाम को आत्मा के ही अन्य परिणाम द्वारा भेद डालना है हीरे को काटना के लिये हीराकणी ही चाहिये, उसी प्रकार आत्मा के एक परिणाम का भेद भी आत्मा के अपने अन्य परिणाम बिना नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह निश्चित की है कि—आत्मा के जिस परिणाम द्वारा कर्मग्रन्थि रूपी परिणाम को भेदना है, वह परिणाम कर्मग्रन्थि

रुपी आत्म परिणाम से बिल्कुल विपरीत प्रकार का होना चाहिये।

तीसरीबात यह निर्णीत की है कि कर्म ग्रंथि रुपी आत्म परिणाम जितना तीव्र हो उससे भी अधिक तीव्र भेदने वाला आत्म परिणाम हो तभी इस परिणाम से ग्रंथिभेद हो सकता है।

परिणाम द्वारा परिणाम के भेद का अनुभव —

आत्मा का एक परिणाम, आत्मा के ही अन्य परिणाम द्वारा तोडा जाता है। राग का भाव द्वेष के भाव से नष्ट किया जाता है। एक समय जिस पर तुम्हारा राग था, दूसरे समय उसी पर कभी द्वेष पैदा हो जाता है और एक समय जिस पर तुम्हें द्वेष हो, उस पर कभी राग भी हो जाता है। ऐसा तो अनेक बार अनुभव हुआ होगा, परन्तु मन का पलटा कब और कैसी स्थिति में होता है, इसका क्या तुमने विचार किया है? यह बात उदाहरण द्वारा तुम्हें जल्दी स्पष्ट हो जायगी। कभी तुम्हारे मन में दान देने का भाव उत्पन्न हुआ, अभी तुमने दान नहीं दिया कि मन में अन्य विचार आया और दान का भाव बदल गया, लक्ष्मी के लोभ ने, दान के भाव को नष्ट कर दिया, क्या कभी ऐसा हुआ है या नहीं? जो भाव मन में प्रगट हुआ हो, उससे विपरीत कोटि का भाव यदि शक्तिशाली बन जायें, तो इसमे पहले प्रगट हुआ भाव नष्ट हो जाता है। दान का भाव लक्ष्मी ऊपर मूर्च्छा के भाव द्वारा नष्ट हो जाना और शील का भाव विषय सुख की अभिलाषा द्वारा नष्ट हो जाना सरल है, क्योंकि जीव लक्ष्मी की मूर्च्छा और विषय सुख की अभिलाषा इत्यादि भावों में अनादिकाल रमण करता आया है, जब कि दान और शील का भाव आत्मा में पुरुषार्थ से उत्पन्न किया जाता है। आत्मा के पुरुषार्थ

से त्त्तन किये हुये दान के भाव और शील के भाव को यदि इनी सम्भाल पूर्वक रख नहीं और इन्हें दृढ़ना सकें तब तो दान शील के भाव म लक्ष्मी की मूर्च्छा एव विषय सुख की अभिलाषा कम न हो जाती। अथवा दान के भाव को लक्ष्मी की मूर्च्छा के भाव से और शील के भाव को विषय सुख की अभिलाषा क भाव । नष्ट होते हुये देर नहीं लगती।

परिणाम से नष्ट करना अर्थात् परिणाम द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रभाव से रोककर उनसे विपरीत प्रभाव को पैदा करना —

कर्म ग्रन्थि रूपी आत्मा का जो परिणाम है, वह परिणाम कैसे परिणामों से नष्ट किये जा सकते हैं, इसका अब हमें विचार करना है। कर्मग्रन्थि रूपी आत्मा का यह परिणाम गाढ राग द्वेषमय है। मोहनीय कर्म चारों घाती कर्मों में सर्वाधिक बलवान है और इसी कर्म में आत्मा के शुद्ध स्वरूप को दबाने की सर्वोत्कृष्ट शक्ति रही हुई है। इस मोहनीय कर्म से जनित ये परिणाम, बाकी के तीन घाती कर्मों-ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय की सहायता भी पाये हुए होते हैं। मोहनीय कर्म इन आत्म परिणामों का जनक होता है। ज्ञानावरणादि तीन घाती कर्म इन आत्म परिणामों को सुस्थिर रखने में सहायक होते हैं।

इन आत्म परिणामों को नष्ट करने के लिये उन्नत बनी हुई आत्मा को, ऐसे परिणामों को पैदा करना चाहिये कि जिन परिणामों से सीधा प्रहार मोहनीय कर्म पर हो और जिन परिणामों द्वारा ज्ञानावरणीयादि तीन कर्मों पर भी कुछ अंशों में प्रहार हुये

निना न रहे। गाढ राग द्वेष क परिणाम से विपरीत स्वरूप का तीव्र परिणाम कैसा होता होगा अर इसकी कल्पना करो। कर्मग्रंथि रूपी आत्म परिणाममें गाढ राग का जा भाव रहा हुआ है जो उसे क्षय कर देवे और कर्म ग्र थि रुपी आत्म परिणाममें गाढ द्वेष का जो भाव रहा हुआ है उसे भी समाप्त कर डाले ऐसा यह परिणाम होना चाहिये। वस्तुत परिणाम को नष्ट नहीं करना परन्तु परिणाम में आते गाढ राग और द्वेष के प्रभाव को हटाना है, और इस प्रभाव को हटाने के लिये, राग की तीव्रता एव द्वेष की तीव्रता को दूर कर देना चाहिये, तथा राग और द्वेष को ऐसे स्थान पर केन्द्रित कर देना चाहिये, कि जिस स्थान पर केन्द्रित होने क योग से ये क्रमश पतले पडते जायें तथा बुरा प्रभाव डालने में शक्तिहीन भी बन जायें। मोह गर्भित राग एव मोह गर्भित द्वेष के प्रति सचमुच घृणा प्रगट हुये बिना तो यह समव नहीं हो सकता।

क्षमा के परिणाम से क्रोध के परिणाम का खण्डन —

इस तरह वस्तुत परिणाम को बदल देने का ही काय करना है। जैसे कहा जाता है कि—'क्रोध के परिणाम को क्षमा के परिणाम से नष्ट करो' इसका भावार्थ यह है कि परिणाम में से क्रोध भाव क प्रभाव को दूर कर दो और परिणाम में क्षमा भाव के प्रभाव को उत्पन्न कर दो। क्रोध के परिणाम को नष्ट करने के लिये अथवा क्रोध पर विजय प्राप्त करने के लिये 'क्रोध कितना हानिकर है! कैसा अनिष्टकारी है ?' इत्यादि विचार उत्पन्न करने चाहिये, और 'क्षमाभाव, यह कैसा सुखदायी है।' ऐसे क्षमा सबधी विचार लाने चाहिये। ऐसे विचार करते २, क्रोध का भाव क्षीण होता जाता है तथा क्षमा का भाव बढ़ता जाता है। इस प्रकार क्रोध का भाव नष्ट

हो जाय और क्षमा के भाव में आत्मा रमण करने लगे तो हम कहेंगे कि क्रोध क परिणाम को क्षमा के परिणाम ने नष्ट कर दिया। क्रोध पर द्वेष और क्षमा पर राग क बिना क्रोध के आत्म परिणाम को नष्ट करने वाला क्षमा रूपी आत्म परिणाम प्रगट नहीं हो सकता और तीव्र भी नहीं बन सकता। इसी तरह कम ग्रन्थि रूपी आत्म परिणाम को भी उसके विपरीत स्वरूप क परिणाम द्वारा ही खण्डित करना चाहिये।

राग के कारण ही द्वेष उत्पन्न होता है।—

हम विचार कर रहे हैं कि गाढ़ राग द्वेष का परिणाम कैसा होता है? इसके लिये सबसे पहले तो यह निश्चय करो कि कम ग्रन्थि को भेद डालने की जिसमें इच्छा ही प्रगट नहीं हुई, उस जीव को किस वस्तु पर राग व किस पर द्वेष होता है?

सु० उसे ससार पर राग होता है और जो कोई उसमें रुकावट दे उस पर द्वेष होता है।

यों तो राग भी अनेक प्रकार का होता है, परन्तु सभी राग का मूल तो संसार पर राग ही है। इसी प्रकार जीव को जो अनेक प्रकार का द्वेष होता है उस द्वेष का वास्तव में मूल भी ससार पर राग ही है। जिसमें राग नहीं होता उसमें द्वेष भी नहीं हो सकता। राग के कारण ही द्वेष पैदा होता है। यदि किसी पर राग न हो तो द्वेष होने का प्रश्न ही नहीं उठता। राग के कारण जिस पर राग होता है उसके प्रतिकूल पर द्वेष का भाव प्रगट होता है। *अब तुम यह विचार करो कि ससार का राग किस वस्तु पर राग*

है ? ससार अर्थात् विषय और ससार का राग विषय की अनुकूलता का राग और कषाय की अनुकूलता का राग है। इसके कारण ही विषय की प्रतिकूलता एव कषाय की प्रतिकूलता का द्वेष है। इस जीव ने विषय की प्रतिकूलता और कषाय की प्रतिकूलता में भी दुख मान रखा है। इस पर तुम समझ गये होगे कि—ससार का राग वह वस्तुत तो ससार के सुख ऊपर ही राग है। इसमे यह भी बात समझ लेनी चाहिये कि ससार असार है। इसका अर्थ यह है कि—ससार का सुख भी असार है। 'यह ससार वास्तव में असार तभी प्रतीत होगा, जब उसे ससार का सुख असार लगेगा, विषय और कषाय के राग के कारण ही ससार सार भूत लगता है। अत 'ससार असार।'—का अर्थ है कि—'ससार का सुख भी असार है।'

विषय कषाय की अनुकूलता के राग को और प्रतिकूलता के द्वेष को छोड़ने के भाव अपूर्व करण में होते ही हैं —

अपूर्व करण को प्रगट करने के लिये जीव को विचार करना चाहिये कि विषय की अनुकूलता एव कषाय की अनुकूलता का राग कितना बुरा और कितना अधिक हानिकारक है। जीव यदि विचार करे तो उसे आभास हो जाता है कि—'हिंसादिक पापों का मूल जीव का विषय एव कषाय की अनुकूलता का राग ही है। जीव को प्राय पाप का आचरण तथा दुख का अनुभव इसी कारण करना पड़ता है। हिंसादिक जो जो पाप करते हो उन सब को याद कर विचार करो कि तुमने जो पाप किये हैं अथवा इन पापों को करने का जो तुम्हारा मन हुआ है, वह क्या हुआ? तुम अगर समझ पूर्वक विचार कर सको तो तुम्हें प्राय ऐसा ही लगेगा कि यदि मुझे विषय कषाय की अनुकूलता

का राग न होता, तो मैं इन में न तो कोई पाप ही करता और न ही इन पापों की तरफ मेरा मन ही झाता।' इसी तरह जो तुम दुःख भी झेलते हो तो तुम विचार करो कि क्या तुम्हें दुःख झेलना अच्छा लगता है या नहीं ? दुःख भोगना तुम्हें प्रिय नहीं परन्तु विषय—कषाय के राग की अनुकूलता के कारण, इस राग को मजबूत बनाने के लिये तुम्हें दुःख भोगना भी अच्छा लगता है। विषय कषाय की अनुकूलता का राग पाप कराता है, दुःख भोगने को अग्रसर करता है और इस तरह किये हुये पाप के परिणाम से जीव दुःखी हो जाता है। विषय कषाय कषाय की अनुकूलता के ऐसे राग पर और राग के द्वारा प्रगट हुये द्वेष पर क्या घृणा नहीं आती ? ऐसा विचार आना चाहिये कि— 'यह राग मेरा सबसे बड़ा शत्रु है। अतः विषय और कषाय की अनुकूलता का राग छोड़ने योग्य है। ऐसे विचार उत्पन्न होने पर अपूर्व करण दूर नहीं रह सकता। इस एस परिणाम उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते कि जिनसे राग द्वेष की तीव्रता नष्ट न हो जाय। जीव को ऐसे भी विचार आने लगते हैं, 'मुझे अब ऐसी दशा प्राप्त करना है कि जिससे मेरे मन में राग न रहे और द्वेष भी न रहे। मैं वीतराग बन जाऊं।' 'राग द्वेष के योग में जीव को वस्तुतः सुख है ही नहीं परन्तु दुःख ही है और राग द्वेष, यही दुःख के कारण हैं। ऐसा ध्यान आते तब वीतराग बनने की इच्छा प्रगट होती है। इसके प्रताप से वीतराग बनने के उपाय रूप धर्म पर राग प्रगट होता है और वीतराग बनने में अन्तराय करने वाले पाप पर द्वेष पैदा होता है। 'राग द्वेष ये इसके कारक हैं, हेय हैं इसलिये मुझे ये राग और द्वेष चाहिये ही नहीं।' इस प्रकार के जो परिणाम होते हैं, इन्हें अपूर्व करण के रूप में पहचाना जा सकता है।

अपूर्व करण के बाद अनिवृत्ति करण'—

'राग द्वेष हेय ही है।' यह समझ लेने पर भी जीव को सबसे पहले धर्म के विषय में राग और पाप के विषय में द्वेष करने का प्रयत्न करना, आवश्यक है। 'राग द्वेष हेय ही हैं'—ऐसा समझने मात्र से ही जीव राग द्वेष से मुक्त नहीं बन सकता। धर्म के राग को और पाप के द्वेष को दिल में धारण कर, पाप से मुक्त और धर्म से युक्त बन कर ही जीव, राग द्वेष से सर्वथा मुक्त बन सकता है। यदि जीव धर्म के प्रति राग को और पाप के प्रति द्वेष को जागृत करने का प्रयत्न करे, तो वह राग द्वेष की जड़ को उखाड़ डालने में समर्थीभूत हो सकेगा। यह बात ध्यान में रखनी है कि यद्यपि राग द्वेष से सर्वथा छूट जाने के परिणाम प्रगट करने मात्र से राग द्वेष नहीं चले जाते, तथापि ये परिणाम राग द्वेष को इतना पतला तो कर ही देते हैं कि बाद में यदि कर्मोदय से जीव को कभी विषय कषाय की अनुकूलता पर राग हो जाय और विषय-कषाय की प्रतिकूलता पर द्वेष भी आ जाय, तो भी 'यह राग द्वेष करने योग्य नहीं हैं।' ऐसा तो इस जीव को महसूस होता ही रहता है, उस प्रकार राग द्वेष को मूल से उखाड़ डालने के उपाय को बतलाने वाले श्री जिन वचनों पर, इस जीव में सुन्दर रोचक भाव भी प्रगट हो सकता है। कारण कि अपूर्व करण को प्राप्त हुआ जीव बाद में उसी समय ही अनिवृत्ति करण को प्राप्त होता है और यह अनिवृत्ति करण एक ऐसा परिणाम है कि जिसके द्वारा आत्मा को सम्यग् दर्शन गुण प्रगट हुये बिना रह ही नहीं सकता। अर्थात् अनिवृत्तिकरण परिणाम आत्मा में सम्यक्त्व परिणाम को निश्चय ही उत्पन्न करने वाला होता है।

अनिवृत्ति करण ही अनिवृत्ति करण कैसे कहलाता है?—

सम्यग् दर्शन गुण को प्रगट करने वाला जीव, यथा प्रवृत्ति करण

द्वारा कर्मस्थिति को अधिकांश क्षय कर डालने के कारण लघु कर्म स्थिति को प्राप्त होकर ग्रन्थि देश में आता है, और इसके बाद अपने पुरुषार्थ के बल से अपूर्व करण को पैदा कर, यह जीव सघन राग-द्वेष के परिणाम स्वरूप कर्म ग्रन्थि को भेद देता है। इस कर्मग्रन्थी को भेद डालने के बाद इस जीव में जो परिणाम पैदा होता है, उसे ही अनिवृत्ति करण कहते हैं। क्योंकि इस परिणाम को प्राप्त करने वाला जीव सम्यक्त्व के परिणाम को पाये बिना पीछे नहीं हटता।

यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि—क्या अपूर्व करण को, प्राप्त हुआ जीव, सम्यक्त्व के परिणाम को पाये बिना पीछे हट सकता है ?

इसका स्पष्टीकरण यह है कि—जो जीव अपूर्व करण को प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व के परिणाम को प्राप्त किये बिना कभी पीछे हटे ऐसा तो नहीं होता, परन्तु अपूर्व करण को प्राप्त करते ही जीव तुरन्त सम्यग् दर्शन के परिणाम को प्राप्त हो जाय, ऐसा भी नहीं बनता। अपूर्व करण से अनन्तर ही सम्यग् दर्शन का परिणाम हो सकता नहीं। अर्थात् अपूर्व करण मात्र से सम्यग् दर्शन का परिणाम प्रगट हो जाय ऐसा संभव नहीं। परिणाम अर्थात् आत्मा का अध्यवसाय। अपूर्व करण द्वारा जीव तीव्र राग द्वेष के परिणाम को तो भेद डालता है, परन्तु अभी मिथ्यात्व-मोहनीय का विपाकोदय चालू ही रहता है और जब तक जीव का मिथ्यात्व मोहनीय का विपाकोदय चालू होता है तब तक जीव में सम्यक्त्व के परिणाम नहीं प्रगट सकते। जीव जब सम्यक्त्व के अध्यवसाय में होता है, तब इसमें मिथ्यात्व मोहनीय का विपाकोदय तो होता ही नहीं, और अगर किसी कारण से इसमें मिथ्यात्व मोहनीय का विपाकोदय हो जाय, तो इस जीव का सम्यक्त्व का अध्यवसाय जाता रहता है।

अर्थात् अपूर्वकरणद्वारा राग द्वेष की तीव्र परिणाम स्वरूप कर्म ग्रन्थि का भेद करने वाला जीव, अनिवृत्तिकरण द्वारा अपनी ऐसी अवस्था को पैदा करता है कि जिस में इस जीव को या तो मिथ्यात्व मोहनीय का सर्वथा ही उदय न हो, अथवा मिथ्यात्व मोहनीय का विपाकोदय न हो। जीव की ऐसी अवस्था अपूर्व करण से पैदा नहीं हो सकती। जब अपूर्व करण अपना कार्य कर लेता है और उसके बाद जीव को जो शुभ परिणाम प्रगट होते हैं, उनसे ही ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है। इसी से इस परिणाम को अनिवृत्ति करण के रूप में पहचाना जाता है।

अनिवृत्ति करण के काल में जीव किस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है—इस सम्बन्ध में कर्मग्रन्थिक अभिप्राय—

सम्यक्त्व रूप आत्म परिणाम के तत्काल पूर्व अनिवृत्ति करण परिणाम के काल में उस परिणाम द्वारा आत्मा किस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करती है-अब इस पर विचार करते हैं। अनिवृत्ति करण द्वारा, अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त काल में आत्मा जो सिद्धि प्राप्त करती है, इस सम्बन्ध में दो प्रकार के अभिप्राय प्रचलित हैं। पहला कर्मग्रन्थिक अभिप्राय और दूसरा सैद्धान्तिक अभिप्राय। कार्मग्रन्थिक अभिप्राय से, अनिवृत्ति करण के काल में अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अनिवृत्ति करण द्वारा ये २ काम करता है कि—इस काल के मध्य वर्ती मिथ्यात्व मोहनीय के जितने दलिये उदय में आते हैं उन सबको क्षय कर लेता है, इतना ही नहीं अपितु अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त के बाद अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व मोहनीय के जो दलिये उदय में आने वाले हों उन दलियों की स्थिति यदि घटा डालनी संभव हो

तो उसको घटाकर उन दलियों को अनिवृत्ति करण के काल में लाकर इन को भी अनिवृत्ति करण द्वारा क्षय कर देता है, परन्तु मिथ्यात्व मोहनीय के जिन कर्म पुद्गलों की काल स्थिति को घटाना सम्भव न हो उन पुद्गलों की स्थिति को, यह जीव अपने अनिवृत्ति करण के काल में ही बढ़ा देता है, कि जिससे कमसे कम ये पुद्गल अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त के बाद के दूसरे अन्तर्मुहूर्त में तो उदय में ही नहीं आ सकता इस तरह यह जीव अपने अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त के बीच में इस के बाद में आनेवाले अन्तर्मुहूर्त को ऐसा बना लेता है कि उस अन्तर्मुहूर्त काल में मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गलों का न तो विपाकोदय और न ही प्रदेशोदय हो। अपने फल को पैदा करने के सामर्थ्य वाले कर्म दलियों का उदय विपाकोदय कहलाता है और अपने फल को पैदा करने वाले सामर्थ्य से हीन बन गये कर्मपुद्गल के उदय को प्रदेशोदय कहते हैं।

इससे तुम समझ गये होगे कि—अनिवृत्ति करण काल के मध्य जीव तीन काम करता है। प्रथम तो अन्तर्मुहूर्त में स्वत उदय में आये मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गलों को क्षय करता है, दूसरा, बाद के अन्तर्मुहूर्त में उदय में आने वाले मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गलों की स्थिति घटा डालनी सम्भव हो, तो उनकी स्थिति घटाकर उदय में लाकर उनको क्षय कर देता है और तीसरा कार्य यह करता है कि बाद के अन्तर्मुहूर्त में आने वाले मिथ्यात्व मोहनीय के जिन पुद्गल की स्थिति घटानी सम्भव न हो, उन की स्थिति जीव र देता है।

जब मिथ्यात्व-मोहनीय के दूगलों का प्रदेशोदय या विपाकोदय नहीं होता, तब अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया और लोभ का

भी प्रदेशोदय या विपाकोदय नहीं होता। अनन्तानुबंधी कषाय के पुद्गलों का प्रदेशोदय भी नहीं हो सके, ऐसे अन्तर्मुहूर्त के लिये आवश्यक सारी तैयारी, जीव अनिवृत्ति करण के काल में ही कर लेता है, और उसके तुरन्त बाद यह जीव, मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबंधी के पुद्गलों के उदय से रहित अन्तर्मुहूर्त को प्राप्त करता है। इस अन्तर्मुहूर्त की प्राप्ति को औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति कहते हैं। औपशमिक परिणाम के इस अन्तर्मुहूर्त को अन्तर करण कहते हैं। अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त से अन्तर अन्तर करण के अन्तर्मुहूर्त के पहले समय में ही जीव औपशमिक सम्यक्त्व रूपी आत्म परिणाम का स्वामी बनता है। जगत में जलता दावा नल सार ही वन प्रदेश का जलाने वाला होता है, परन्तु वन प्रदेश का जो भाग घास आदि से रहित बन गया हो अथवा वनप्रदेश का जो भाग घास आदि से रहित बना दिया हो, वनप्रदेश का वह भाग उस दावानल से अस्पृष्ट रह जाता है क्योंकि-अग्नि के योग से जलने वाली सामग्री ही वनप्रदेश के इस भाग में नहीं होती। औपशमिक सम्यक्त्व रूपी आत्म परिणाम को प्राप्त करने वाला जीव भी, एक अन्तर्मुहूर्त को, वनप्रदेश के इस भाग के समान बना देता है, और इससे इस अन्तर्मुहूर्त के बीच में जब तक यह जीव अनन्तानुबंधी कषाय के उदय वाला नहीं बनता तब तक के लिये इस जीव में दर्शन मोहनीय की किसी भी प्रकृति का किसी भी प्रकार का उदय नहीं होता।

अनिवृत्ति करण के काल में जीव किस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है—इस सम्बन्ध में सैद्धान्तिक अभिप्राय—

इस प्रकार कर्मग्रन्थिक अभिप्राय से सम्यक्त्व के परिणाम को

प्राप्त करने वाला अनादि मिथ्यादृष्टि प्रत्येक जीव पहले तो औपशमिक सम्यक्त्व के परिणाम को ही प्राप्त करता है जब कि इस सम्बन्ध में, सैद्धांतिक अभिप्राय यह है कि–सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले अनादि मिथ्यादृष्टि मात्र ही जीव, पहले औपशमिक सम्यक्त्व ही प्राप्त करें, ऐसा कोई नियम नहीं है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, औपशमिक सम्यक्त्व का प्राप्त किये बिना भी, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का प्राप्त कर ले, ऐसा हो सकता है। अर्थात् सम्यक्त्व के परिणाम को प्राप्त करने वाले अनादि मिथ्यादृष्टि जिन जीवों ने औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करना होता है, वे जीव उस सम्यक्त्व का प्राप्त करते हैं, परन्तु, सम्यक्त्व का प्राप्त करने वाले अनादि मिथ्यादृष्टि जीवों में ऐसे जीव भी हो सकते हैं कि जो जीव औपशमिक को न पाकर, अनिवृत्ति करण द्वारा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को ही प्राप्त करते हैं। सैद्धान्तिक अभिप्राय से, जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले होते हैं। वह जीव अपने अनिवृत्ति करण काल में, अपने अनिवृत्ति करण द्वारा, औपशमिक सम्यक्त्व का प्राप्त करने वाले जीवों की प्रक्रिया से भिन्न प्रकार की प्रक्रिया करते हैं। अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त काल के बीच में उदय में आने मिथ्यात्व मोहनीय के और अनंतानुबंधी कषायों के पुद्गलों को तो यह जीव क्षय ही कर देता है, परन्तु उस उपरांत, यह जीव सत्ता में रहे हुए मिथ्यात्व मोहनीय के जो पुद्गल हैं, उनके ३ पुञ्ज बना देता है। मिथ्यात्व मोहनीय के सत्तागत पुद्गलों में से जितने पुद्गलों को शुद्ध अर्थात् मिथ्यात्व रूपी मल से मुक्त बना सके, उतने पुद्गलों को तो शुद्ध बना ही देता है और बाकी रह हुए मिथ्यात्व मोहनीय के सत्तागत पुद्गलों में से जितने पुद्गलों को अर्द्ध शुद्ध बनाया जा सके उनको वह अर्द्ध शुद्ध बना देता है। "अनिवृत्ति करण" नाम के आत्मपरिणाम से, इस [illegible] मोहनीय के सत्तागत पुद्गलों

को शुद्ध बना लेने का प्रयत्न करता है, परन्तु वह जीव उन सब को पूर्ण रूप से शुद्ध या शुद्धाशुद्ध भी नहीं बना सकता, और इससे ऐसे भी पुद्गल सत्ता में रह जाते हैं, कि जिन से इस जीव का शुद्धि करण का यह प्रयत्न सर्वथा अस्पृष्ट ही रहता है। मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गलों का इस तरह शुद्धिकरण करने से उनके तीन पुंज हो जाते हैं। एक शुद्ध पुंज, कि जिस पुंज को सम्यक्त्व मोहनीय के दलिया के पुंज के रूप में पहचाना जाता है, दूसरा मिश्र अर्थात् शुद्धा शुद्ध पुंज,-जिस पुंज को मिश्र मोहनीय के पुंज के रूप में पहचाना जाता है, तीसरा अशुद्ध पुंज, जिसे मिथ्यात्व मोहनीय के पुंज के रूप में पहचाना जाता है। इन तीन पुंजों में शुद्ध ऐसे सम्यक्त्व मोहनीय के पुंज को ही यह जीव उदय में लाता है और यह शुद्ध पुंज रूप सम्यक्त्व मोहनीय का जो उदय है, उस प्रभाव वाले जीव का परिणाम, क्षायोपक्षमिक सम्यक्त्व रूप आत्म परिणाम है। अर्थात् अनिवृत्ति करण के काल के बीच में अनिवृत्ति करण द्वारा यह जीव, मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुंज करने की प्रक्रिया करता है और यहां अनिवृत्तिकरण का काल पूरा हो जाता है। इस काल के पूर्ण होने के साथ ही पहले ही समय, सम्यक्त्व मोहनीय नाम के पदार्थ का वेदन रूप क्षायोप क्षमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है।

औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त किए हुए जीवों की भावी स्थिति के संबंध में भी अभिप्राय भेद.—

कर्म ग्रन्थिक अभिप्राय ऐसा है कि—अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, तब अपूर्वकरण द्वारा कर्मग्रन्थि को भेदने के बाद ही, यह जीव अनिवृत्तिकरण द्वारा अंतरकरण को पैदा करता है, जो कि औपशमिक सम्यक्त्व के परिणाम रूप है।

औपशमिक सम्यक्त्व के परिणाम रूप इस अतरकरण में भी अतर्मुहूर्त जितने काल में, यह जीव मिथ्यात्व मोहनीय के सत्तागत दलियों के, अभी हम जिस तरह विचार के आए हैं उस तरह, तीन पुज करता है। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में इस तरह, यह जीव तीन पुज कर लेता है, उसके बाद, इन तीन पुजा में से यदि इस जीव का सम्यक्त्व मोहनीय रूपी शुद्ध पुज का उदय हो, तो यह जीव चौथे गुण स्थानक में टिक जाता है, परन्तु तीन पुजों में अगर इस जीव के मिश्र मोहनीय रूपी शुद्धाशुद्ध पुज का उदय हो, तो यह जीव मिश्रगुण स्थानक को प्राप्त करता है, और इन तीन पुजों में से इस जीव को यदि अगर मिथ्यात्व मोहनीय रूपी अशुद्ध पुज का उदय होता है तो यह जीव पहले मिथ्यात्व गुण स्थानक को प्राप्त हो जाता है। इस तरह अनादि मिथ्यादृष्टि जीव पहले औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है और औपशमिक सम्यक्त्व के काल में यह जीव तीन पुज करता है और तीन पुज करके या तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा मिश्र सम्यक्त्व को प्राप्त करता है या पुन मिथ्यादृष्टि बन जाता है। ऐसा कार्मग्रथिक अभिप्राय है जबकि सैद्धान्तिक अभिप्राय ऐसा है कि—'अनादि मिथ्यादृष्टि जीव पहले औपशमिक सम्यक्त्व को ही प्राप्त करे, ऐसा नियम नहीं है, यह जीव औपशमिक सम्यक्त्व पाये बिना ही क्षायोपक्षमिक सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त प्राप्त करता है, वह जीव अपने औपशमिक सम्यक्त्व के काल रूपी अन्तर करण के काल तक सम्यक्त्व का रसास्वाद प्राप्त कर, अन्त में तो यह पुन मिथ्यात्व के उदय को ही प्राप्त करता है, अर्थात् यह जीव औपशमिक सम्यक्त्व के काल में तीन पुज करता ही नहीं।

श्री जिन शासन की आराधना की बात में जो आनन्द

कई जीव तो ऐसे होते हैं कि—"यहा सुनते हुए यही सोचते हैं कि—यह तो महाराज ऐसा कहते ही रहते हैं लेकिन इन्द्रियों के विषयों और भोगादि की अनुकूलता बिना सुख सभवही नहीं।" मोक्षके प्रति द्वेष का यह भी एक नमूना है। तुम मोक्ष के द्वेषी तो नहीं परन्तु रागी ही हो, क्या ऐसा मानलूं ? मोक्ष के राग को सफल करने के लिये जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये। जिस भाग्य शाली ने सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त कर लिया हो उसे सम्यक्त्व को दिन प्रतिदिन अधिकाधिक निर्मल बनाने का पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

३ सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्यग्दर्शन का प्रभाव'—

अनन्त उपकारी भगवान श्री जिनेश्वर देवों के शासन में सम्यक्त्व की महिमा इतनी अधिक दर्शायी गयी है, कि इसके अभाव में ज्ञान, सम्यग्ज्ञान रूप नहीं बनता इसके बिना चारित्र, सम्यक् चारित्र रूप नहीं बन पाता और इसके बिना तप को भी सम्यक् तप नहीं कहा जा सकता। वह ज्ञान भगवान श्री जिनेश्वरों देवों द्वारा अर्थ रूप में प्ररूपित और श्री गणधर भगवन्तों द्वारा आगम शास्त्रों में गुंथा हुआ हो, तो भी उस ज्ञान को प्राप्त करने वाली आत्मा यदि सम्यक्त्व से वंचित हो, तो इस आत्मा में, यह शास्त्र ज्ञान भी सम्यग् ज्ञान के रूप में परिणमत नहीं होता, उस आत्मा के लिए यह शास्त्र ज्ञान भी अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान की कोटि में गिना जाता है। इसी तरह श्री अरिहन्त भगवन्तों द्वारा बताये हुए चारित्राचारों का पालन करने वाली आत्मा जो सम्यक्त्व को प्राप्त न हुई हो तो इस आत्मा द्वारा चारित्राचारों का पालन सम्यक् चारित्र की कोटि में नहीं गिना जाता परन्तु कायकष्टादि की उपमा के योग्य माना जाता है। इसी तरह भगवानजी द्वारा बताये हुये अनशनादि तप को आसेवन करने वाली आत्मा ने यदि सम्यक्त्व की प्राप्ति न हुई हो तो यह तप इस आत्मा के कर्मों को तपानेवाला नहीं बनता, परन्तु आत्मा को संतप्त बनाकर यह तप इस आत्मा के लिये संसार की वृद्धि का हेतु बन जाता है। इससे उस तप का आसेवन भी सम्यक् कोटि का तप नहीं गिना जाता है।

सम्यक्त्व का ही यह प्रभाव है कि इसकी उपस्थिति में ज्ञान इस तरह आत्मा में परिणमन पाता है कि जिससे वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान माना जाता है, चारित्र का पालन ऐसा भाव पूर्वक बनता है कि जिससे वह चारित्र सम्यक् चारित्र गिना जाता है और तप भी ऐसा उच्च प्रकार का बनता है कि जिससे इस आत्मा के साथ चिपटे हुए कर्म जलने लगते हैं, उनकी निर्जरा होती है और इस हेतु से वह तप सम्यक् कोटि का बन जाता है।

सम्यक्त्व की सन्मुख दशा वाले जीव को भी ज्ञान चारित्र-तप से लाभ होता है —

यदि जीव को सम्यक्त्व की इस प्रकार की महत्ता सुनने में आये और वह जीव यदि इतना भी मानता और समझता हो कि— "शास्त्रों में जो इस प्रकार का वर्णन किया गया है वह असत्य नहीं है।" तो क्या वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना सन्तुष्ट रह सकता है ? क्या उसके मन में ऐसे विचार उत्पन्न नहीं होंगे कि "मैं ऐसा पुरुषार्थ करू कि मेरी आत्मा में यह गुण प्रकट हो जावे।" जिस जीव को इस प्रकार के विचार आयें, क्या वह जीव सम्यक्त्व गुण की महत्ता का वर्णन करने वाले ग्रन्थों का अवलोकन करने के लिये प्रयत्नशील नहीं होगा ? क्या वह सम्यक्त्व को प्राप्त करने के उपायों को बताने वाले ज्ञानी भगवन्तों के कहे शास्त्रों का अध्ययन करने का पुरुषार्थ नहीं करेगा ? जिस सम्यक्त्व प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा हो गयी है वह तो उसकी प्राप्ति के उपायों को जानने एव उन का आचरण करने में निश्चय प्रयत्नशील होगा। इस प्रकार की मनोवृत्ति से जीव यदि ज्ञान को प्राप्त करे, तो वह ज्ञान इस जीव में सम्यग् रूप से परिणमन होने लगेगा। सम्यक्त्व गुण को प्राप्त करने

की भावना से जीव यदि चारित्र का पालन करने लगे अथवा अन शनादि तप का आसेवन करने लगे, तो यह चारित्र और तप भी उस जीव को क्रमशः सम्यक कोटि के फल देने वाले बन जायेंगे।

"सम्यक्त्व को प्राप्त करने की इच्छा वाले जीव को भी लाभ होता है।" ऐसा जो हम कहते हैं तो वह इस अपेक्षा से कहा जाता है कि जब कभी कई जीव सम्यक्त्व प्राप्त करेगा तो वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व तो मिथ्यादृष्टि ही होगा। मिथ्यादृष्टि जीव भी सम्यक्त्व प्राप्ति के परिणाम का स्वामी बने बिना तो उसे प्राप्त कर ही नहीं सकता अर्थात् उपदेशादि के श्रवण द्वारा या स्वाभाविक रीति से भी जीव सम्यक्त्व की सन्मुख दशा के अनुरूप क्षयोपशम को प्राप्त करे तभी वह जीव क्रम से सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। पहले जीव को मिथ्यात्व का उदय चालू होता है परन्तु अब उसका मिथ्यात्व मंद पड़ गया होता है।

उसके मिथ्यात्व का क्षयोपशम हो जाता है। इसलिये इसमें जो गुण पैदा होता है वह इस क्षयोपशम के प्रभाव से होता है। ऐसे जीव को मिथ्यादृष्टि कहने की बजाय, सम्यक्त्व के सन्मुख बना हुआ जीव कहना अधिक उचित है। यदि ऐसा न हो तो जीव सम्यग्दर्शन गुण को कैसे प्रगट सकता है? इसी कारण धर्म का धर्म रूप में प्रारम्भ पहले गुणठाणे मे होता है। यह मिथ्यात्वादि की मंदता की अपेक्षा से कहा जा सकता है। सम्यक्त्व की अपेक्षा से कहा जा सकता है। सम्यक्त्व की सन्मुख दशा को प्राप्त किये हुए जीव का भाव सम्यग्दृष्टि जीव के भाव के साथ पूर्णत प्रतियोगिता करने वाला होता है। इसी कारण से वह उस भाव जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण बनता है।

श्री वीतराग का शासन सर्वदर्शीय है :—

हमें सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति हो गयी है अथवा हम सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करने की इच्छा प्रगट होने से हम सम्यक्त्व की सन्मुख दशा वाले हैं—यह बात हमें अपनी आत्मा को समझकर स्वयं निश्चित करनी चाहिये। हमें यह सब सुनते हुये सबसे पहले तो इस बात की प्रतीति हो जानी चाहिये कि—"श्री वीतराग का शासन यही एक ऐसा शासन है कि जिस का सच्चा अभ्यास करने वाली आत्माओं को यह बात हृदयगत हो जाती है कि जगत के सभी शासनों के सामने अधिक खड़े रहने वाला और धर्म शासन के रूप में परिपूर्ण योग्यता को धारण करने की शक्ति वाला एक मात्र श्री वीतराग परमात्मा का शासन ही है। जगत में कई शासन विद्यमान हैं। उनमें धर्मशासन के रूप में जगत में प्रसिद्धि पाने वाले भी शासन भी हैं। श्री वीतराग परमात्मा के शासन के सिवाय जो भी शासन हैं, उनमें से कितने तो वास्तविक रीति से धर्मशासन कहलाने के भी अधिकारी नहीं हैं और कितने आंशिक रूप में ही धर्मशासन कहलाने की क्षमता रखते हैं। वास्तव में उन दर्शनों की सब बातें निरपेक्ष होने के कारण वे कुदर्शन हैं, जब कि श्री वीतराग परमात्मा का शासन, यह सर्वदर्शीय शासन है। श्री वीतराग परमात्मा के शासन में आत्मा के स्वरूप का वर्णन इस तरह किया गया है कि यह कहीं भी बाधित नहीं होता है। आत्मा अनादिकाल से कैसा है ? आत्मा का जड़ के साथ कैसा सम्बन्ध है ? आत्मा किससे बद्ध है और कैसे मुक्त बन सकता है ? इत्यादि बातों का श्री वीतराग परमात्मा के शासन में परस्पर विरोध भाव आये बिना सर्वथा सुस्पष्ट रीति से वर्णन किया गया है।

सम्यग्दर्शन गुण का आगमन होना अर्थात् दुर्गति के

द्वारों का बन्द हो जाना तथा सुख का स्वाधीन बन जाना'—

जैसी हमारी आत्मा है, वैसी अनन्तानन्त आत्मायें इस विश्व में अनादिकाल से विद्यमान हैं और अनन्त काल तक अनन्तानन्त आत्मायें इस जगत में विद्यमान रहेंगी। अपना अस्तित्व अर्थात् आत्मा का अस्तित्व कभी भी सर्वथा मिटने वाला नहीं है, परन्तु हमारी आत्मा इस तरह भटकती रहे, यह हमें पसन्द नहीं है। आत्मा सर्वदा जीवित तो रहेगा परन्तु इसका भव भ्रमण जारी रहे, यह बात हमें प्रिय नहीं है। इसलिये, हमने संसार से छूटने और मोक्ष को प्राप्त करने का पुरुषार्थ स्वीकार किया है। जिन्होंने अब तक इस पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं किया, क्या अब उन्हें भी इस दिशा में पुरुषार्थ करने का मन हुआ है? हमें संसार से छूटना है और मोक्ष प्राप्त करना है—यह हमारा लक्ष्य है और इसलिये हमें जो पुरुषार्थ करना पड़े उसमें सम्यक्त्व गुण की पहली आवश्यकता है। सम्यक्त्व गुण के प्रगट हुये बिना किसी भी आत्मा को किसी भी काल में मुक्ति होती नहीं और सम्यक्त्व गुण जिसमें प्रगट हो जाता है उसके लिये नरक गति और तिर्यंच गति के द्वार बंद हो जाते हैं इतना ही नहीं परन्तु देविक सुख भी उसके स्वाधीन बन जाते हैं। मानुषिक सुख उसको सुलभ हो जाते हैं, और अनन्तर वह मुक्ति सुख का भी अधिकारी हो जाता है। जिस भव में मुक्ति की भी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु ऐसी भविष्यता वाले जीव थोड़े ही होते हैं। समकत्व को प्राप्त करने वाले जीवों में उन जीवों की होती है जिनको मुक्ति प्राप्त करने से पहले अधो चिरकाल पर्यन्त संसार में रहना होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब तक मुक्ति प्राप्त न हो जीव कहां रहते हैं? संसार में भी उन्हें कौन से स्थान की प्राप्ति होती है? यदि जीव का सम्यक्त्व के साथ बना रहे, तो यह जीव कभी भी दुर्गति में नहीं जा

सकता। सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले आयुष्य बंध गया हो तो यह बात अलग है अन्यथा सम्यक्त्व की उपस्थिति में सम्यग्दृष्टि जीव को दुर्गति का आयुष्य कभी बंधता ही नहीं। अर्थात् यह जीव न तो नरक गति में ही जाता है और न तिर्यंच गति को प्राप्त होता है। अब शेष दो गतियां देव और मनुष्य में भी यह जीव केवल सुख वाले स्थान को ही प्राप्त करता है। ऐसा करते करते अन्त में यह जीव मनुष्य गति को प्राप्त कर सर्व कर्मों का क्षय कर मुक्ति को प्राप्त कर सर्व कर्मों का क्षय कर मुक्ति के शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है।

इस दृष्टि और इस रुचि के अनेक गुण —

सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन करने वाली इस बात का मर्म तुम्हें समझ आ गया होगा। आत्मा में सम्यक्त्व गुण का प्रगटीकरण हो जाने से जो नरक तिर्यंच दोनों ही गतियों के द्वार बन्द हो जाते हैं और सुख भी स्वाधीन हो जाता है इसका क्या कारण है? सम्यक्त्व प्राप्ति मात्र से ही खराब बर्ताव का त्याग कर श्रेष्ठ बर्ताव का आचरण करने वाला नहीं बन जाता परन्तु कदाचित् वह खराब आचरण करने वाला हो तो भी सम्यक्त्व प्राप्ति से अच्छे विचार प्रगट होने लगते हैं जिसके कारण उसकी दुर्गति के द्वार बंद हो जाते हैं और दैनिक, मानुषिक सुख तथा अन्तत मुक्ति का शाश्वत सुख भी उसके स्वाधीन बन जाता है ज्ञानियों की दृष्टि में जो बर्ताव खराब गिना जाता है उसे प्रमत्त बर्ताव कहते हैं। कोई जीव ऐसा प्रमादाचरण करता हो उसको किये बिना तो वह न रह सकता हो परन्तु उस कार्य को वह खराब ही मानता हो—ऐसा जीव जगत में क्वचित् मिलेगा। सम्यग्दर्शन गुण के योग से आत्मा को सर्व प्रथम लाभ यह होता है कि 'अच्छा क्या है और खराब क्या है?' इसका निर्णय करने का विवेक उसको प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी जिसे खराब और

छोड़ने योग्य बतलाते हैं, उस को वह भी खराब एव त्याज्य मानता है तथा ज्ञानी जिस अच्छा और स्वीकार करने योग्य कहते हैं, उसको वह भी अच्छा और स्वीकार करने योग्य समझता है। ऐसी दृष्टि और ऐसी रुचि जीव में सम्यग्दर्शन गुण के योग से प्रगट होती है। इस दृष्टि और इस रुचि का बहुत बड़ा महत्व है।

खराब वर्तन की सभावना सातवें गुण स्थानक की प्राप्ति तक मानी जाती है —

हम जो कुछ भी करते हैं उसमें इस बात का क्या हम निर्णय कर सकते हैं कि अच्छा क्या है और खराब क्या है ? जो कुछ हमें अच्छा लगता है क्या उसको करने के लिए हम उत्साहित रहते हैं ? अच्छा न कर सकें तो क्या अच्छा करने की हमें आकांक्षा उठती हैं ? तथा जो कुछ खराब है क्या उससे भी दूर रहने का मन होता है ? जो कुछ खराब कार्य हमें करना पड़ता है क्या उसके लिए हमें महसूस होता है कि हम खराब कर रहे हैं।

"मैं जो यह खराब कार्य कर रहा हूँ, वह अनुचित है, यह मुझे करना ठीक नहीं है।" ऐसा महसूस करने वाली आत्माएं जगत में कितनी होंगी ?

तथा "यह तो चलता ही है" ऐसा मानने वाले जगत में कितने होंगे ?

याद रखो कि वर्ताव की खराबी तो छठे गुण स्थानक वर्ती जीव में भी सभवित है। जब यह जीव आगे बढ़कर सातवें गुण स्थानक में वर्तता हो तब ही हम ऐसा कह सकते हैं कि इस जीवन में खराबी

नहीं का अभाव है क्योंकि सातवें गुणस्थानक में रहे हुए जीव में प्रमाद नहीं होता। इसके पहले तो खराबी की सभावना बनी ही रहती है। छटे गुणस्थानक में रही हुई आत्मा प्रमाद का आचरण तो कर सकती है परन्तु ऐसा करते हुए भी वह आत्मा न तो उसे अच्छा मानती है और न ही उसे अच्छा कहती है।

पाँचवें गुण स्थानक में रहे हुए जीव ने अभी संसार का त्याग तो नहीं किया। वह ससार में जीवन व्यतीत कर रहा है और ससार के सुखों का सेवन भी कर रहा है तो भी वह ऐसा मानता है कि ससार में रहना और ससार के सुखों को भोगना खराब है। इसी लिए, उसने जितनी विरति स्वीकार की हो उसका वह आनद अनुभव करता है और स्वीकृत विरति के अभ्यास से परिपूर्ण रूप से विरति प्राप्त करने की अभिलाषा करता है।

यद्यपि चौथे गुण स्थानक में रहा हुआ जीव पूर्णतया अविरति में बैठा हुआ है तथापि वह जीव भी मानता यही है कि "मैं जो अविरति का सेवन करता हू। वह अच्छा नहीं है।" यह उसकी दृढ़ मान्यता होती है।

इस तरह स्वय जो २ प्रमादाचरण एव अविरति का सेवन करता हो, उन सभी को खराब एव हेय मानने वाले जीव जगत में कितने मिलेंगे? ऐसे जीवों की सख्या तो बहुत ही थोड़ी निकलेगी।

अच्छे को अच्छा और खराब को खराब ही मानना।—

जो कुछ अच्छा है उसे अच्छे रूप में मानना और जो खराब है उसे खराब रूप में मानना यह कोई सरल बात नहीं है। पहले तो

शास्त्र कहते हैं कि—"नरक और निर्यंच के द्वार बन्द और स्वर्गीय सुख, मानुषिक सुख तथा मुक्ति सुख उसके लिये स्वाधीन।" शास्त्र के इन वचनों का क्या रहस्य है ? पाच इन्द्रियों के भोग बिना क्या जीवों का काम चल सकता है और जिसको यह चाहिये, उसका परिग्रह के बिना क्या काम बन सकता है ? जिसे परिग्रह चाहिये, उसका हिंसादि बिना क्या मामला बैठ सकता है ? समझ है कि उत्तम जीव असत्य और चोरी का आश्रय न लें, परन्तु जिसको परिग्रह चाहिये क्या वे सभी ऐसे ही होते हैं कि चाहे जो भी दुःख हो तो भी वे असत्य और चोरी का आश्रय नहीं लेंगे। क्या तुम सब असत्य से और चोरी से सर्वथा बचे हुये हो ? कुछ ख्याल हो कि—ऐसा बोलना, यह असत्य है और इस तरह कोई वस्तु लेनी, यह चोरी है, तो क्या तुम ऐसा विश्वास दे सकते हो कि भले मेरे प्राण चले जायें परन्तु मैं न तो असत्य बोलूगा और न ही चोरी करूगा। दे सको ? जिसको विषय भोग तथा परिग्रह का लोभ पड गया हो वह हिंसा भी कर सकता है सभवत असत्य भी बोल सकता है और चोरी भी कर सकता है यह कोई अशक्य बात नहीं है ? भोग और परिग्रह की आवश्यकता उत्पन्न हो जाये तो यह कितनी खराब वस्तुए हैं, इसे तो तुम समझते ही हो ? तो भी क्या तुम भोग और परिग्रह को खराब मानते हो ? आत्मा का ये अहित ही करने वाले हैं, क्या ऐसा मानते हो ?

मैल तो निठाना पडेगा ?—

जिसमें सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हुआ है ऐसी अविरति एवं देश विरति वाली आत्माओं को भोग और परिग्रह की आवश्यकता तो पड़ती ही है। ये भोग भोगती ही हैं, ये परिग्रह रखती ही हैं इस कारण से वे

हिंसादिक पापस्थानों का भी सेवन करती ही हैं। तो भी शास्त्र ऐसा कैसे लिखते हैं कि—'जिस जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है, उस जीव के लिये नरक तिर्यंच के द्वार बन्द हो जाते हैं।' हिंसा का उत्कृष्ट फल कौनसा ? नरक। असत्य का उत्कृष्ट फल कौनसा ? नरक। हिंसा असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का उत्कृष्ट अर्थात् अंतिम फल नरक और मध्यम फल तिर्यंच भी शास्त्र कहते हैं और 'जो जीव सम्यग् दर्शन गुण को प्राप्त हुआ हो उस जीव के लिये नरक गति और तिर्यंच गति के द्वार बन्द हो जाते हैं।"—ऐसा भी शास्त्र ही कहते हैं तो इनका मेल तो बिठाना ही पड़ेगा ? शास्त्र में तो इसका मेल बिठाया हुआ है, परन्तु स्वयं इस बात को समझने हेतु इन का मेल तुम्हें अपने मन में भी बिठाना ही पड़ेगा। शास्त्र इतना ही कहकर रुक नहीं गये कि—सम्यग्दृष्टि जीव के लिये नरक तिर्यंच के द्वार बन्द हो जाते है परन्तु शास्त्रों ने आगे बढ़कर यह भी कहा है कि—"सम्यग् दृष्टि जीव को दैविक, मानुषिक और मुक्ति सुख भी स्वाधीन हो जाते हैं" तुम इस बात को अपनी बुद्धि में किस तरह से बिठा सकते हो ?

मात्र साधुओं के लिये नहीं कहा—

तुम कहीं ऐसा तो नहीं मानते कि यह बात साधुओं के ही सम्बन्ध में कही गयी है ? साधुपने को प्राप्त होने वाले के लिये ही यह बात है, ऐसा तो कहीं तुम नहीं समझ गये ? यहां तो 'सम्मत्तम्मि उलद्धे' अर्थात् कि 'सम्यक्त्व प्राप्त होने पर।' ऐसा लिखा है। जो तुम ऐसा मानते हो कि—साधुत्व को ही सार रूप मानने वालों के लिये यह लिखा है तो यह भी समझ कोई गलत नहीं है क्योंकि जो जीव सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करता है, उस जीव को

पीने योग्य भगवान् का फरमाया हुआ साधुपन ही है।" ऐसा निश्च य तो अवश्य होता है। सम्यग्दर्शन गुण की सूचक ऐसी आत्मा का जो क्षयोपशम हो, तो उस क्षयोपशम से वह ऐसा ही कहेगा कि "जीव के लिये जीने लायक तो सर्वथा पाप रहित एक साधु जीवन ही है।" ऐसा भाव इस जीव में प्रगट होता है और इस के प्रताप से यह जीव मानता है कि जिस जीवन म जितना पाप अधिक हो उतना ही वह जीवन खराब है। अर्थात् वह अपने पाप युक्त जीवन को भी खराब जीवन ही मानता है और ऐसे जीवन से छूटने के लिये और पाप रहित साधु जीवन को प्राप्त करने की मनोकामना करता है।

सम्यग् दर्शन प्राप्त करने मात्र से विरति प्राप्त नहीं की जा सकती.—

तुम समझ गये होगे कि-सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त हुई आत्मायें साधु जीवन को अपनाने वाली ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होने के साथ ही साधुपन भी आ ही जाने का एकान्त नियम नहीं है। परन्तु 'विरति बिना निस्तार है ही नहीं' ऐसी समझ तो सम्यग्दृष्टि जीवों में निश्चय होती ही है, परन्तु सम्यग् दृष्टि जीव विरतिवाला ही हो ऐसा कोई एकान्तवाद नहीं है। सच्चा विरतिपन अथवा सच्चा देश विरतिपन तो आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होने के पश्चात् ही आता है। सम्यग्दर्शन गुण अपने स्वामी आत्मा का लक्ष्य विरति की तरफ खींचे बिना रहता नहीं। परन्तु ऐसा होते हुये भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने मात्र से जीव विरति को प्राप्त नहीं कर सकता, यह भी निश्चित बात है, क्योंकि विरति को प्राप्त करने के लिये तो दूसरे क्षयोपशम आदि की आवश्यकता पड़ती है। दर्शनमोहनीय का क्षयोपशमादि सम्यग्दर्शन गुण को

प्रगट करता है और चारित्र मोहनीय का क्षयोपशमादि निरति गुण को प्रगट करता है। दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम वाली आत्माओं में सभी चारित्र मोहनीय के भी क्षयोपशमादि वाली ही हों, ऐसी भी संभव नहीं है। दर्शन मोहनीय का क्षयोपशमादि हुआ हो और चारित्र मोहनीय का भारी उदय हो ऐसा भी हो सकता है। इसलिये सम्यग् दृष्टि आत्माओं में जिस प्रकार कई सर्व निरति आत्माएँ होती हैं और कई देश विरति भी होती हैं उसी प्रकार उन में कई अविरति आत्माएँ भी होती हैं।

पाप करणी चालू होते हुऐ भी दुर्गति से बचा लेनी वाली कौनसी वस्तु है ?—

सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त की हुई आत्माओं में सर्वविरति आत्मायें जितनी होती होती हैं उससे बहुत अधिक देशविरति आत्माएँ तथा अविरति आत्माएँ होती हैं। देश विरति आत्माएँ और अविरति आत्माएँ, तो सब गृहस्थ ही होते हैं। ये सब विषयों का सेवन न करते हों, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? नहीं और क्या ये सब परिग्रह को नहीं रखते हैं ? उसकी प्राप्ति एवं संग्रह नहीं करते हैं, क्या ऐसा भी कहा जा सकता है ? नहीं। तब विषयों का सेवन करने वाला और परिग्रह का संग करने वाला षट्काय की हिंसादि से बच सके क्या यह शक्य है ? संभव है कि वह स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य और स्थूल अदत्तादान से दूर रहता हो, क्योंकि कई जीव ऐसे भी होते हैं कि इस प्रकार की वृत्ति वाले हैं कि अभी हमारा धन बिना निर्वाह नहीं हो सकता, भोगों के बिना भी नहीं चल सकता क्योंकि संसार में बैठे हैं। संसार हिंसामय है, इसलिये हिंसा से भी पूर्ण रूप से नहीं बचा सकता परन्तु हम भोग या परिग्रह के लि

असत्य तो नहीं बोलें और चोरी भी नहीं करेंगे यदि हम भी ऐसा कहो कि—"हम विवश हैं जो कि या हमारा भोग बिना चलता नहीं, भोग बिना नहीं चलना इसलिये परिग्रह के बिना भी गुजर नहीं होता तथा भोग और परिग्रह की विद्यमानता में हम षट्काय की हिंसादि से सर्वथा बच नहीं सकते, परन्तु हम कैसी भी स्थिति में पड जायें तो भी असत्य नहीं बोलेंगे और चोरी नहीं करेंगे।" तो यह सुनकर हमें प्रसन्नता होगी। परन्तु इस ससार में ऐसे भी जीव होते हैं कि जिन्होंने हिंसा आदि पाच महा पापों का स्थूल रूप से भी त्याग नहीं किया होता ? उनमें से जो जीव सम्यग् दर्शन गुण को प्राप्त हुये हों, उन जीवों के लिये भी जब शास्त्र कहता है कि "नरक और तिर्यंच गति के द्वार बन्द हैं और वैमानिक, मानुषिक तथा सिद्धि सुख इन जीवों के स्वाधीन है।" तब विचार करना चाहिये कि—शास्त्र के इन वचनों का क्या रहस्य है ? हिंसादि चालू है, विरति है नहीं, तो भी जो ऐसा कहा जाता है तो इसकी खोज करनी चाहिये-कि ये जीव कैसी मनोभावना के स्वामी होते हैं। करणी में तो कुछ नहीं, वह तो पापकरणी ही है, तो फिर इस करणी के होते हुए भी सम्यग् दृष्टि जीवों को दुर्गति से बचा लेने वाली कौनसी चीज है ? और इद वैमानिक आदि सुख को स्वाधीन बनाने वाली कौनसी चीज है ? यहां, मनोभावना का विचार किये बिना नहीं चल सकता और यह विचार भी योग्य स्वरूप में करना पडेगा।

मनोभाव का फल —

इस विषय से हम जैसे २ विचार करें, वैसे २ हमें दर्शन मोह नीय के क्षायोपशम की महत्ता समझ में आयेगी। यह क्षयोपशम भाव ही, सम्यग् दृष्टि जीव के पाप कृत्यों में से पाप के रस को निकाल

देता है, वह क्षयोपशम भाव ही, सम्यग्दृष्टि जीव के पुण्य बंध में सहायक बनता है और इस क्षयोपशम भाव के द्वारा ही सम्यग् दृष्टि जीव निजरा को करने वाला बनता है। वह जो पाप करता है, वह उसे विवश होकर करना पडता है, तभी करता है अन्यथा पाप करने का उसका मन नहीं होता। वैसे ही कर्मों का उदय आ जाने से उसे हिंसादिक जो पाप करना पड़ता है उसमें उसे रस तो होता ही नहीं है। उसका मनोभाव यह होता है कि यह पाप न करना पडे तो अच्छा है।' पाप करना पडे तो उसका मनोभाव यह होता है कि "मुझे जितना थोडे से थोडा पाप करना पडे, वही अच्छा है। तथा "इस पाप से कब छूटू गा ?" ऐसा मनोभाव भी उसका बना ही रहता है। जैसे पाप करणी का फल होता है वैसे ही इस मनोभाव का भी तो फल होना है। इस मनोभाव का फल अधिक बढ जाय, यह भी तो हो सकता है। पाप करणी करते २ भी इस मनोभाव के कारण जीव चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम करने वाला बन सकता है। इस तरह तुम विचार करो तो तुम्हें शास्त्र के इन वचनों का रहस्य स्पष्ट हो जायगा कि 'सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त होते ही नरक और तिर्यंच के द्वार बन्द हो जाते हैं और स्वर्गीय मानुषिक और मुक्ति सुख स्वाधीन बन जाता है।" यह बात पाप करणी करने वाले सम्यग्-दृष्टि जीवा के लिये भी ठीक बैठती है।

घाटे में रहा हुआ प्रतिष्ठित और प्रमाणिक व्यापारी सुख-भोग भोगते हुए भी मन में दुःखी रहता है—

पाप करते हुए भी मैं यह पाप सयोगवश करता हूँ और मैं जो ये पाप करता हूँ यह खराब करता हूँ ऐसा मन में महसूस होता ही रहे।

किसी भी सयोग में पाप करने से क्या शुद्ध बनेगा ? ऐसा विचार मात्र भी जिनको नहीं आवे, वे जीव ससार में कितने हैं तथा विषय सेवन करते हुये भी यह पाप है, ऐसा मन में मानने वाले जीव कितने ?

एक बहुत बड़ा व्यापारी चालीस हजारकी मोटर में फिरता हो, विशाल बगले में बैठा हो और रूप साहबी की अपार सामग्री से युक्त हो, तो भी इसके मन में क्या होगा जब उसे यह समाचार आये कि 'घाटा पड़ गया' 'चोरी हो गयी,' ऐसे ही जहा २ धधा लेकर बैठा हो वहा २ 'घाटा पड़ गया है ' ऐसे समाचार आते जाते हों तब वह बाहर से कैसा भी दिखाई देता हो, परन्तु भीतर मनमें सुखी होगा या दुःखी ?

दुःखी ही तो होगा । उसी प्रकार जीव सम्यग् दृष्टि हो परन्तु उसे अविरति का भीषण उदय हो तो वह जीव हिंसादिक एक भी पाप से छूटा न हो और पाप कृत्य करता हो यह भी हो सकता है परन्तु इसके मनो भाव कैसे होंगे ? भीतर तो इसके यही विचार चलते रहेंगे कि "इन पापो से कब छूट सकूंगा ?"

स० कपटी ऐसा कहेगा—

यह कोई किसी को कहने आने की बात नहीं है । तुम अपनी अनभिज्ञता से किसी को कपटी मानने की भूल न करो । तथा गुण की आशातना न करो, तो ही श्रेष्ठ है । क्या तुम उस व्यापारी को भी मायावी कहोगे ? वह व्यापारी तुम्हारे साथ बड़े स्वाद से चाय पीता हो, परन्तु उसके आतरिक दिल में क्या होगा ? इसके हृदय के दुःख को वह तुम्हें बताये नहीं या तुम इसके दुःख को जान नहीं सको, इतने मात्र से क्या तुम उसे कपटी मान लोगे ? यह बात प्रमाणिक और प्रतिष्ठित व्यापारी की है । जिसे अपनी प्रतिष्ठा का बड़ा

गौरव हो 'मेरी प्रतिष्ठा न चली जाय' इसकी उसे बड़ी चिन्ता हो। ऐसे व्यापारी की यह बात है। आज के अधिकतर व्यापारियों जैसे व्यापारी की यह बात नहीं चल रही है। "दूसरों का धन देने की जिद्द चिन्ता नहीं है।" "दे सके तो ठीक अन्यथा कोर्ट में असमर्थता की अर्जी दे देंगे" ऐसे मान मर्यादा से रहित व्यापारी की यह बात नहीं है, किन्तु यह तो ऐसे व्यापारी की बात चल रही है, जिसे अपनी प्रतिष्ठा का गौरव है और 'किसी का धन मेरी ओर न डूब जाय" इस बात की चिन्ता है। क्या तुम ऐसा मानोगे कि वह कपटी है? चौथा और पांचवा गुण ठाणा, ये गृहस्थों के लिये है। सम्यग्दर्शन को नहीं प्राप्त किये हुए मार्गानुसारी आत्माओं को भी जब कोई अनुचित कार्य करना पड़ता है, तो उनका मन दुःखी होता है, तो फिर सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त की हुई आत्मा को कोई भी पाप अच्छा लगे, क्या यह कभी सम्भव हो सकता है? तथा पाप कृत्यों को खराब मानते हुए भी वह कोई पाप करे, तो क्या वह मायावी है? तुम झूठ बोलते हो, तो तुम जानबूझकर बोलते हैं, क्या हम ऐसा मान लें? असत्य बोलना तुम्हें अच्छा न लगता हो, विषय सेवन तुम्हें पसन्द न हो, क्या ऐसा हो ही नहीं सकता? इसीलिये ही प्रतिष्ठित धनवान व्यापारी का उदाहरण यहां दिया है। यह ऐसा है कि—इसके घर यदि दूसरे बलात्कार भी धन छोड़ गये हों, तो उनके पैसे न डूब जायें—इस बात की उसे चिन्ता होती है। आज व्यापारी वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा गवा दी है, इसीलिये ही बैंकों में अपार धन राशि आती है और व्यापारी यदि सुप्रसिद्ध हो तो भी उसे मांगने पर रकम नहीं मिलती।

तुम पूछोगे कि—'प्रतिष्ठित और प्रामाणिक व्यापारी जो स्वयं समझता हो कि मैं हानि में बैठा हूँ, तो वह व्यापार क्यों नहीं बन्द कर देता? पेढी और बंगले क्यों नहीं बेच

देता ?" इससे तत्काल ऐसा बने, यह संभव नहीं होता। यह तो सब रखड़ा रखकर देने में से छूटने की इच्छा रखता है। यह किसी के धन के ह्रास का पक्ष लेने वाला नहीं है।

इसी प्रकार सम्यग् दृष्टि आत्मा पाप करता हो तो भी उसकी पाप से छूटने की हमेशा इच्छा रहती है। पाप में पड़े रहने या पाप को करते रहने का स्वप्न में भी उसका मन नहीं होता।

सम्यग् दृष्टियों में कौन कैसा आयुष्य बांधता है ?

चौथे गुणस्थानक और पांचवे गुणस्थानक में रहा हुआ जीव तो सम्यग् दृष्टि ही होता है। सम्यग् दर्शन बिना चौथा और पांचवा गुणस्थानक संभव ही नहीं। इस गुण स्थानक में रहा हुआ जीव संसार में बैठता तो होता है यह विषयों का सेवन करता होता है ? परिग्रहधारी होता है, षट्काय की हिंसा भी करता है, यह करते हुये भी ये सब खराब है।' ऐसा इसके हृदय में बैठा ही होता है, तो ऐसा जीव क्या नरक गति या तिर्यंच गति की आयुष्य बांध सकता है ? नहीं, वह तो देवलोक का और वैमानिक देव लोक का ही आयुष्य बांधता है ? चौथे पांचवे में बैठा हुआ क्या विषय सेवन करने वाला नहीं ? क्या परिग्रह रखने वाला नहीं ? क्या षट्काय की हिंसा करने वाला नहीं ? तो भी वह सम्यग् दृष्टि होने के कारण वैमानिक देवलोक में ही जाता है।

स०—क्या तिर्यंच सम्यग् दृष्टि भी वैमानिक में जाता है ?—

तिर्यंच मरकर देवलोक में न जा सके ऐसा नहीं है। तिर्यंच

यानि म मे देवलोक का आयुष्य बाधकर देवलोक मे जाने वाले बहुत हैं। देवलोक का ज्यादा भाग तो तिर्यंच योनि मे से देवलोक को प्राप्त होने वाले देवों से भरा होता है तिचा में भी अच्छे मन वाले जीव होते हैं। इसलिये तिर्यंचों सम्यग् दृष्टि जीव भी वैमानिक का आयुष्य बाध सकता है। केवल सम्यग् दृष्टि देवता और सम्यग् दृष्टि नार की देवायु को नहीं बाध सकते वे मनुष्यायु ही बाधते हैं। देव च्यवन कर तुरत देव नहीं बन सकता और नारकी भी नरक में से निकल कर सीधा देव नहीं बन सकता।

पाप का भय बिना सम्यक्त्व नहीं आ सकता—

बात यह है कि विषय सुख को भोगने वाले परिग्रह रखने वाले और षट्काय की हिसादि पापकरणी करने वाले जीवों में भी ऐसे जीव होते हैं कि जिन जीवों को 'मैं यह खराब काय करता हू और इनसे कब छुटूँगा ?" ऐसा मन होता है ? जीर्ण ज्वर रोग से जो पीडित हो उस खाने की रुचि नहीं होती, उसका शरीर हमेशा टूटता रहता है। किसी बात में उसको चैन नहीं पड़ता। दूसरे को चाहे यह मालूम न पड़े परन्तु जिसे जीर्ण ज्वर रोग हुआ है, क्या वह उस रोग को भूल सकता है ? कोइ इसे कहे कि "हेभद्र! तुम क्या नहीं कहते कि "मुझे रोग हुआ है ?" तो वह कहेगा कि— "किसे कहूँ ? कहूँ तो भी शायद मेरा कहना कोइ माने या नहीं। इसकी बजाय किसी से न कहकर और अपना दर्द स्वय भोगना अच्छा है। इसी प्रकार सम्यग् दृष्टि के मन में पाप से अपने न छूटने का दुःख होता है। इसको समझे बिना, 'सम्यग दर्शन के प्राप्त होने पर नरक और तिर्यच के द्वारा बन्द तथा स्वर्गीय मानुषिक और मुक्ति सुख स्वाधीन।" यह बात हृदय में जिस तरह बैठनी

देता ?" इससे तत्काल ऐसा बने, यह संभव नहीं होता। वह तो सब खड़ा रखकर देन में से छूटने की इच्छा रखता है। वह किसी के धन के हास का पक्ष लेने वाला नहीं है।

इसी प्रकार सम्यग् दृष्टि आत्मा पाप करता हो तो भी उसकी पाप से छूटने की हमेशा इच्छा रहती है। पाप में पड़े रहने या पाप को करते रहने का स्वप्न में भी उसका मन नहीं होता।

सम्यग् दृष्टियों में कौन कैसा आयुष्य बांधता है ?

चौथे गुणस्थानक और पांचवे गुणस्थानक में रहा हुआ जीव तो सम्यग् दृष्टि ही होता है। सम्यग् दर्शन बिना चौथा और पांचवा गुणस्थानक सम्भव ही नहीं। इस गुण स्थानक में रहा हुआ जीव संसार में बैठना तो होता है वह विषयों का सेवन करता होता है ? परिग्रहधारी होता है, षट्काय की हिंसा भी करता है, यह करते हुये भी ये सब खराब है।' ऐसा इसके हृदय में बैठा ही होता है, तो ऐसा जीव क्या नरक गति या तिर्यंच गति की आयुष्य बांध सकता है ? नहीं, वह तो देवलोक का और वैमानिक देव लोक का ही आयुष्य बांधता है ? चौथे पांचवे में बैठा हुआ क्या विषय सेवन करने वाला नहीं ? क्या परिग्रह रखने वाला नहीं ? क्या षट्काय की हिंसा करने वाला नहीं ? तो भी वह सम्यग् दृष्टि होने के कारण वैमानिक देवलोक में ही जाता है।

स०—क्या तिर्यंच सम्यग् दृष्टि भी वैमानिक में जाता है ?—

तिर्यंच मरकर देवलोक में न जा सके ऐसा नहीं है। तिर्यंच

योनि में से देवलोक का आयुष्य बांधकर देवलोक में जाने वाले बहुत हैं। देवलोक का ज्यादा भाग तो तिर्यंच योनि में से देवलोक को प्राप्त होने वाले देवों से भरा होता है तिर्यंचों में भी अच्छे मन वाले जीव होते हैं। इसलिये तिर्यंचों सम्यग् दृष्टि जीव भी वैमानिक का आयुष्य बांध सकता है। केवल सम्यग् दृष्टि देवता और सम्यग् दृष्टि नारकी देवायु को नहीं बांध सकते वे मनुष्यायु ही बांधते हैं। देव च्यव कर तुरत देव नहीं बन सकता और नारकी भी नरक में से निकल कर सीधा देव नहीं बन सकता।

पाप के भय बिना सम्यक्त्व नहीं आ सकता—

बात यह है कि विषय सुख को भोगने वाले परिग्रह रखने वाले और षट्काय की हिंसादि पापकरणी करने वाले जीवों में भी ऐसे जीव होते हैं कि जिन जीवों को 'मैं यह खराब कार्य करता हूं और इनसे कब छूटूंगा ?" ऐसा मन होता है ? जीर्ण ज्वर रोग से जो पीडित हो उस खाने की रुचि नहीं होती, उसका शरीर हमेशा टूटता रहता है। किसी बात में उसको चैन नहीं पडता। दूसरे को चाहे यह मालूम न पड़े परन्तु जिसे जीर्ण ज्वर रोग हुआ है, क्या वह उस रोग को भूल सकता है ? कोई इसे कहे कि "देवभद्र ! तुम क्यों नहीं कहते कि "मुझे रोग हुआ है ?" तो वह कहेगा कि— "किसे कहूँ ? कहूँ तो भी शायद मेरा कहना कोई माने या नहीं। इसकी बजाय किसी से न कहकर और अपना दर्द स्वयं भोगना अच्छा है।' इसी प्रकार सम्यग् दृष्टि के मन में पाप से अपने न छूटने का दुःख होता है। इसको समझे बिना, 'सम्यग् दर्शन के प्राप्त होने पर नरक और तिर्यंच के द्वार बन्द तथा स्वर्गीय मानुषिक और मुक्ति सुख स्वाधीन।" यह बात हृदय में जिस तरह बैठनी

चाहिये, उस तरह बैठेगी नहीं। विषय सेवन पाप है, परिग्रह पाप है। और षट्काय की हिंसादि भी पाप है। इसे तो तुम मानते ही हो। ये सब पाप तुम्हें करने ही पड़ते हैं परन्तु इसका तुम्हें दुःख होता है या नहीं? यदि तुम हां कहो तो यदि किसी को यह दुःख न हो उस आत्मा का कोई कसूर है अथवा समझाकर दुःख पैदा करना पड़ेगा। इस प्रकार पाप से घृणा पैदा किये बिना सम्यक्त्व आ नहीं सकता क्या पाप का डर बिना सम्यक्त्व आ सकता है? कदापि नहीं, तब सम्यग्दृष्टि जीव को पाप का डर न हो, क्या ऐसा हो सकता है?

अपनी कर्तव्य तो साधु बनकर मोक्ष साधने की है —

आत्मज्ञानियों ने जिस २ कार्य को खराब कहा है वे सब कार्य खराब लगें और जब कभी कोई ऐसा कार्य करना पड़े तो भी उसे छोड़ने का मन सदा बना रहना, क्या यह सरल बात है? दुनिया जिस २ में सुख मानती है सम्यग्दृष्टि आत्मा उस २ में दुःख देखती है। दुनिया जिसे अच्छा मानती है उसे यह जीव खराब मानता है। दुनिया जिस सुख के लालच के आधीन बनकर उसे भोगने में पागल बन जाती है उसे यह कदाचित भोगता है तो भी उसे तत्कालीन दुःख का शमन करने के उपाय रूप में ही भोगता है और 'यह भी पाप रूप है' ऐसा मानकर भोगता है। ऐसे उत्तम जीव को नरक गति में कौन सी शक्ति खींच सकती है? तो फिर तिर्यंच गति की क्या शक्ति है कि यह अपनी ओर उसे ले जा सके? तुम संसार में बैठे हो और भोगादि भोग रहे हो, परन्तु इसका तुम्हारे मन में दुःख है या सुख?

स० सुख भी न लगे और दुःख भी न लगे केवल कर्त्तव्य

ममत्व करें तो ?—

इसमें फिर कर्त्तव्य किस बात का ? तुमने यह जंजाल जान बूझ कर खड़ा किया है या मन नहीं होने पर भी, यह तुम्हारे माथ लग गया है ? ऐसा कहो कि-ऐसे संयोगों में बैठ हैं कि जिससे थोड़ी चिन्ता करनी पड़ती है, परन्तु मन तो सबसे छूटने का ही है। वास्तविक कर्त्तव्य तो मनुष्य जन्म पाकर साधु जीवन प्राप्त करने का है और फिर जल्दी से मोक्ष में पहुंच जाने का है। यह कर्त्तव्य सूझता नहीं और तुम जो संसार में चलाने का पाप करते हो उससे पाप के आचरण को कर्तव्य की ओर क्यों खींच ले जाते हो ? हमारे राग द्वेष हमसे विषय भोगादि कराते हैं और फिर हम उनको कर्तव्य के नाम से पकड़े रखेंगे, तो फिर इनसे छुटकारा कैसे होगा ? परन्तु अन्दर बैठा हुआ जो संसार का राग है, वह पागल जीव को इसी तरह समझाकर बांध रखता है। ऐसा जीव वस्तुतः संसार के सुख में ही बहुधा सुख मानता है।

घर बैठ कर खुशी नहीं मनायी जा सकती—

संसार के सुख में ही सुख मानने की और संसार में दुःख आये तब कायर हो जाने की जो कुटेव पड़ गई है, सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिये तो वह निकालनी पड़ेगी। दुःख में जो रोता रहता है और सुख आने पर हंसता है और इसमें ही अपनी समझदारी मानता है, क्या वह सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है ? बाहर के सुख में बहुत राग द्वेष वाला, अगर सम्यक्त्व को प्राप्त किये हुये हो, तो उसे भी वह गवा बैठता है। बाहर सुख दुःख में बहुत राग और बहुत द्वेष, यह तो साधुपने को भी लूट लेने वाली चीज है। हम लोग मान पान में फंस जायें, तो परिणाम स्वरूप साधुपन भी चला जाय और संभव है कि सम्यक्त्व भी चला जाय। जो प्राप्त हुआ हो वह भी चला जाय,

जहां पर ऐसी सम्भावना हो, वहां सम्यक्त्व का आना कैसे सम्भव हो सकता है ? एक बार नहीं दो बार नहीं परन्तु अनन्ती बार साधु पण लिया हो और साधु बनकर उसका उत्तम रीति से पालन भी किया हो, अर्थात् उसे कोई अतिचार न लगने दिया हो इस तरह साधुपन का आचार पाले हों, तो भी उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति न हुई हो ऐसे अनेक जीव इस संसार में हैं—यह शास्त्रकारों का कथन है।

स०—क्या सम्यक्त्व बिना ही साधुपन ले लिया ?

साधुपन के पालन से स्वर्गादि सुख मिलता है, ऐसा सुनकर स्वर्गादि सुख के लिये इसे स्वीकार करे एवं उसे अच्छी तरह पाले ऐसा भी तो हो सकता है। विषय कषाय के साथ उत्कृष्ट तप करे और उत्कृष्ट चारित्र पाले, यह भी सम्भव है। साधुत्व वास्तविक रूप में उसको फलता है कि जिस संसार का सुख, सुख रूप नहीं लगे। फिर "इसका दु ख ऐसे टाले" और "उसका दुःख वैसे टाले" ऐसी पाप मय प्रवृत्ति में क्या वह साधु पड़ेगा ?

स०—प्रभावना ही तो होती है ?

घर बेचकर खुशी मनाने वाला क्या समझदार कहलायेगा ? घर बार सब बेचकर उत्सव मनाये और उस उत्सव में ऐसा भोजन कराये कि भोजन करने वाले को भी वह भोजन याद रह जाय, परन्तु दूसरे ही दिन से भीख मांगने निकले, तो क्या कोई अच्छा कहलायेगा ? लोग जो भोजन करके गये होंगे, वह भी उसे क्या कहेंगे ? "बेवकूफ ! तुझे किसने ऐसा उत्सव मनाने के लिये कहा था ?" ऐसा ही दुनिया कहेगी ? इसी प्रकार साधुपने को भूलकर प्रभावना करने निकलने वाले को ज्ञानी पुरुष क्या कहेंगे ? जो धर्म को स्वयं ही धक्का देता है, वह फिर धर्म की प्रभावना किस तरह कर सकता है। वह धर्म की प्रभावना करेगा या अधर्म की ?

परिशिष्ट

"विषमकाल जिन बिंब जिनागम
भविजन ने आधारा"

भव्यात्माए प्रभु भक्ति, स्तुति द्वारा
सम्यग्दर्शन को प्रकट कर एव उसे निर्मल बना कर
अपने अनमोल मानव भव को सफल करें।

प्रभु भक्ति महिमा

भत्तीइ जिणवराण खिज्जंति पुव्वसंचियकम्म ।
गुणपगरिस बहुमाण' कम्मवण दवाणलो जेण॥

जिनेश्वर भगवतों की भक्ति पूर्व संचित कर्मों को नाश करने वाली है। जैसे दावानल से विशाल वन जल कर राख हो जाता है वैसे ही गुण प्रकर्ष जिनवरों की भक्ति से अनन्तकाल के कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं।

वत्थु सहावो एसो अउव्व चिंतामणि महाभागो ।
थोऊण तित्थयर पाविज्जइ बोहि लाभो त्ति ॥

यह वस्तु स्वभाव (Cosmic order) है कि तीर्थंकर परमात्मा
त्रिलोकीनाथ अचिन्त्यचिन्तामणि की स्तुति करने से भव्यात्मा
सम्यग्दर्शन महारत्न को प्राप्त कर लेती हैं। बात केवल इतनी ही है
कि स्तुति में आत्मा परमात्मा के साथ एक तान हो जानी चाहिये।
यदि पारसमणि और लोह के सम्बन्ध होने में बीच में कागज आ
जायगा, तो लोह स्वर्ण नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार परमात्मा की
आराधना करते हुए, यदि अस्थिरता, भौतिक आशंसा आदि बीच में

बाधक आ जायें तो आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकेगा और उसका कल्याण अप्रकट रह जायगा।

पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बनता है
परमात्मा की भक्ति से आत्मा परमात्मा बनती है।

वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः।
स्वर्गापवर्गफलदो शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥

वीतराग परमात्मा 'षट् जीव निकाय हित' स्वरूप हैं। वे अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्त वीर्य के धारक हैं। अतः उनकी यह स्वभाव सिद्ध शक्ति है कि जो मुमुक्षु उन का ध्यान करें, उन्हें मोक्ष तथा मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त उत्तम मानव और देव भव की सहज ही प्राप्ति हो जाती है।

अचिंतसत्ति जुत्ता ते भगवंतो वीअरागा
सव्वण्णू परम कल्लाणा परमकल्लाणहेऊ सत्ताण ॥

लोक स्थिति ही ऐसी है कि सब प्रकृति अरिहंत को स्वामी मानती है। जो उनकी आज्ञानुसार चलते हैं, उन की यह दासी बन जाती है। श्री अरिहंत परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ अचिन्त्य चिंतामणि परम कल्याण स्वरूप सब जीवों के कल्याण के हेतु हैं।

श्री आत्मरक्षाकर नवकार मंत्र

ॐ परमेष्ठि नमस्कार, सारं नवपदात्मकं । आत्मरक्षाकरं वज्र, पञ्जराभं स्मराम्यहं ॥ १ ॥ ॐ नमो अरिहंताणं, शिरस्कं शिरसि स्थितं । ॐ नमो सव्व सिद्धाणं, मुखे मुखपटंवरं ॥ २ ॥ ॐ नमो आयरियाणं, अंगरक्षातिशायिनी । ॐ नमो उवज्झायाणं, आयुधं हस्त योर्दृढं ॥ ३ ॥ ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं, मोचके पादयो शुभे। एसो पंच नमुक्कारो शिला वज्रमयी तले ॥ ४ ॥ सव्वपावप्पणासणो, वप्रो वज्रमयो बहि । मंगलाणं च सव्वेसिं, खादिरांगार खातिका ॥ ५ ॥ स्वाहांतं च पदं ज्ञेयं, पढमं हवइ मंगलं । वप्रोपरि वज्रमय पिधानं देहरक्षणे ॥ ६ ॥ महाप्रभावा रक्षेयं, क्षुद्रोपद्रवनाशिनि परमेष्ठिपदोद्भूता, कथिता पूर्वसूरिभि ॥ ७ ॥ यश्चैवं कुरुते रक्षां, परमेष्ठिपदैं सदा । तस्य न स्याद् भयं व्याधि, राधिश्चापि कदाचन ॥ ८ ॥

नवकार महिमा

किं एस महारयणं ? किं वा चिंतामणिव्व नवकारो ?
किं कप्पदुमसरिसो ? नहु ताण वि अहिययरो ॥
चिंतामणिरयणाइं कप्पतरु इक्क जम्मसुहहेऊ ।
नवकारो पुण पवरो सग्गापवग्गाण दायारो ॥

(क्या यह नवकार महारत्न है ? अथवा चिन्तामणि समान है ? या कल्पवृक्ष समान है ? नहीं, नहीं, यह तो उनसे भी अधिकतर है। चिन्तामणि रत्न आदि और कल्प वृक्ष तो केवल एक जन्म में ही सुख के कारण हैं जबकि श्रेष्ठ नवकार स्वर्ग और मोक्ष को भी देने वाला है अर्थात् जन्म २ यावत् मोक्ष पर्यंत सुख का हेतु है।)

महा मागलिक नवस्मरणानि

(१) नवकार–पच मगल सूत्र

नमो अरिहताए ॥ १ ॥ नमो सिद्धाए ॥२ ॥ नमो आयरियाए ॥ ३ ॥ नमो उवज्झायाए ॥४॥ नमो लोए सव्वसाहूण ॥५॥ एसो पच नमुक्कारो ॥ ६ ॥ सव्व पावप्पणासणो ॥ ७ ॥ मगलाए च सव्वेसिं ॥ पढम हवइ मगल ॥ ८ ॥ इति ॥ १ ॥

(२) उवसग्गहर स्तोत्र

उवसग्गहर पास, पास वदामि कम्मघणमुक्क। विसहरविस निनास, मगल कल्लाए आवास ॥ १ ॥ विसहरफुलिंगमत, कठे धारेइ जो सया मणुओ। तस्स गहरोगमारी, दुट्ठजरा जति उवसामं ॥ २ ॥ चिट्ठउ दूरे मतो, तुज्झ पणामोवि बहुफलो होइ। नरतिरिएसुवि जीवा, पावति न दुक्खदोगच्च॥ ३ ॥ तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणिकप्पपा यवब्महिए। पावति अविग्घेण जीवा अयरामर ठाए ॥ ४ ॥ इअ सथुओ महायस !, भत्तिब्भर निब्भरेण हिअएण। ता देव! दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास जिण चद ! ॥ ५ ॥ इति

(३) सतिकर स्तवन

सतिकर सतिजिए, जगसरण जयसिरीइ दायार। समरामि भत्तपालग-निव्वाणीगरुडकयसेव ॥ १ ॥ ॐ ।

पत्ताण मतिमासिदायाए । सो स्याद्दा मंतेण, सहासिय'ग्रिसहरणाए ॥ ९ ॥ ॐ नमित्तुणपासे, स्लोसहिमाइलद्धिपत्ताण । सौं ह्रीं नमो गन्ना-महिपत्ताण च दइ सिरिं ॥ ३ ॥ वाणी तिहुअण सामिणि-सिरिन्दीजक्खरायगणिपिडगा । गहदिसिपालसुरिंदा, मय वि रक्खतु जिणभत्ते ॥ ४ ॥ रक्खतु मम रोहिणी, पन्नती वज्ज सिखला य सया । वज्अकुसि चक्कसरि, नरदत्ता काली महकाली ॥ ५ ॥ गोरी तह गधारी, महजाला माणवी अ वइरुट्टा । अन्छुत्ता माणसिआ, महमाणसिआओ देवीओ । ६ ॥ जक्खा गोमुह महजक्ख तिमुह जक्खम तु वरु कुसुमो । मायगविजयअजिआ, बभो मणुओ सुरकमारो ॥७॥ छम्मुह पयाल किनर, गरुडो गधव्व तह य जखियदो ॥ कूबर वरुणो भिउडी, गोमेहो पासमायगो ॥ ८ ॥ देवीओ चक्कसरि, अजिआ दुरिआरि काली महाकाली । अच्चुअ सता जाला सुतारयासाअ सिरियच्छा ॥ ६ ॥ चंडा विजयकुसि, पन्नइत्ति निव्वाणि अच्चुआ धरणी । वइरुट्ट छुत्त गंधारि, अब पउमावई सिद्धा ॥ १० ॥ इअ तित्थरक्खणरया, अन्नेवि सुरासुरी य चउहावि । वतरजोइणिपमुहा, कुणतु रक्ख सया अम्ह ॥ ११ ॥ एव सुदिट्ठिसुरगण-सहिओ सघस्स सतिजिणचंदो । मज्झवि करेउ रक्ख, मुणिसुदरसूरि थुअमहिमा ॥ १२ ॥ इअ सतिनाह-सम्म दिट्ठिरक्ख सरइ तिकाल जो । सव्वोवद्दवरहिओ, स लहइ सुहसपय परम ॥ १३ ॥ तवगच्छगयणदिणयरजुगवरसिरिसोमसु दरगुरूण । सुपसायलद्धगणहर-विज्जा-सिद्धी भणइ सीसो ॥ १४ ॥

(४) श्री तिजयपहुत्त स्तोत्र

तिजयपहुत्तपयासय-अट्ठमहापाडिहेरजुत्ताणं ।
समयक्खित्तठिआणं, सरमि चक्कं जिणिंदाणं ॥ १ ॥
पणवीसा य असीआ, पनरस पन्नास जिणवरसमूहो ।
नासेउ सयलदुरिअं, भविआणं भत्ति जुत्ताणं ॥ २ ॥
वीसा पणयाला विय, तीसा पन्नत्तरी जिणवरिंदा ।
गहभूअरक्खसाइणि घोरुवसग्गं पणासंतु ॥ ३ ॥
सत्तरि पणतीसा वि य, सट्ठी पंचेव जिणगणो एसो ।
वाहिजलजलणहरिकरि-चोरारिमहाभय हरउ ॥ ४ ॥
पणपन्ना य दसेव य पन्नट्ठी तह य चेव चालीसा ।
रक्खंतु मे सरीरं, देवासुरपणमिआ सिद्धा ॥ ५ ॥
ॐ हरहुंहः सरसुंसः, हरहुंहः तह य चेव सरसुंसः ।
आलिहियनामगब्भं, चक्कं किर सव्वओभद्दं ॥ ६ ॥
ॐ रोहिणि पन्नत्ति, वज्जसिंखला तह य वज्जअंकुसिआ ।
चक्केसरि नरदत्ता, कालि महाकाली तह गोरी ॥ ७ ॥
गंधारि महज्जाला, माणवि वइरुट्ट तह य अच्छुत्ता ।
माणसि महमाणसिआ, विज्जादेवीओ रक्खंतु ॥ ८ ॥
पंचदसकम्मभूमिसु, उप्पन्नं सत्तरिं जिणाण सयं ।
विविह रयणाइवन्नो-वसोहिअं हरउ दुरिआइं ॥ ९ ॥
चउतीस अइसयजुआ, अट्ठमहापाडिहेरकयसोहा ।

तित्थयरा गयमोहा माणअन्ना पयत्तेण ॥ १० ॥
ॐ वरकणयसंखविद्दुम-मरगयघणसन्निहं विगयमोहं ।
सत्तरिसयं जिणाणं, सव्वामरपूइअं वंदे । स्वाहा ॥ ११ ॥
ॐ भवणवइवाणवंतर-जोइसवासी विमाणवासी अ ।
जे के वि दुट्ठदेवा, ते सव्वे उवसमंतु मम । स्वाहा ॥ १२ ॥
चंदणकप्पूरेणं फलए लिहिऊण खालिअं पीअं ।
एगंतराइगहभूअ-साइणिमुग्गं पणासेइ ॥ १३ ॥
इअ सत्तरिसयं जंतं सम्मं मंतं दुवारि पडिलिहिअं ।
दुरिआरिविजयवंतं, निब्भंतं निच्चमच्चेह ॥ १४ ॥

(४) नमिऊण-स्तोत्रम् ।

नमिऊण पणयसुरगण—चूडामणिकिरणरंजिअं मुणिणो ।
चलणजुअलं महाभय-पणासणं संथवं वुच्छं ॥ १ ॥
सडियकरचरणनहमुह, निबुड्डनासा विवन्नलायन्ना ।
कुट्ठमहारोगानल-फुलिंगनिद्दड्ढसव्वंगा ॥ २ ॥
ते तुह चलणाराहण सलिलंजलिसेयवुड्ढियच्छाया ।
वणदवदड्ढागिरिपा-यव व्व पत्ता पुणो लच्छिं ॥ ३ ॥
दुव्वायखुभिअ जलनिहि उब्भडकल्लोलभीसणारावे ।
संभंतभयविसंठुल निज्जामयमुक्कवावारे ॥ ४ ॥

अविदलिअजाणवत्ता, खणेण पावंति इन्छिअ कूलं ।
पासजिणचलणजुअल, निच्चं चिअ जे नमंति नरा ॥ ५ ॥
खरपवणुध्धुयवणदव जालावलिमिलिअसयलदुमगहणे ।
डज्झंतमुद्धमयवहु भीसणरवभीसणम्मि वणे ॥ ६ ॥
जगगुरुणो कमजुअलं, निव्वाविअसयलतिहुअणाभोअं ।
जे संभरंति मणुआ, न कुणइ जलणो भयं तेसिं ॥ ७ ॥
विलसंतभोगभीसण-फुरिआरुणनयणतरलजीहालं ।
उग्गभुअंगं नवजलय-सत्थहं भीसणायारं ॥ ८ ॥
मन्नंति कीडसरिसं, दूरपरिच्छूढविसमविसवेगा ।
तुह नामक्खरफुडसिं-द्धमंतगुरुआ नरा लोए ॥ ९ ॥
अडवीसु भिल्लतक्कर-पुलिंदसद्दूल सद्दभीमासु ।
भयविहुरवुन्नकायर-उल्लूरियपहियसत्थासु ॥ १० ॥
अविलुत्तविहवसारा, तुह नाह पणाम मत्तवावारा ।
ववगयविग्घा सिग्घं, पत्ताहिअ इच्छिय ठाणं ॥ ११ ॥
पज्जलिआनलनयणं, दूरवियारियमुहं महाकायं ।
नहकुलिसघायविअलिअ-गइंदकुंभत्थलाभोअं ॥ १२ ॥
पणयससंभमपत्थिव-नहमणि माणिक्कपडिअपडिमस्स ।
तुह वयणपहरणधरा सीहं कुद्धं पि न गणंति ॥ १३ ॥
ससिधवलदंतमुसलं, दीहकरुल्लालवुड्ढिउच्छाहं ।
महुपिंगनयणजुअलं, ससलिलनवजलहरारावं ॥ १४ ॥
भीमं महागइंदं, अच्चासन्नंपि ते न वि गणंति ।

जे तुम्ह चलणजुअलं, मुणिवइ तु न समक्षीणा ॥ १५ ॥
समरंमि तिक्खखग्गा भिग्घायपविद्धउद्धुयकबंधे ।
कुंतविणिभिन्नकरिकलह मुक्कसिक्कारपउरंमि ॥ १६ ॥
निज्जिअदप्पुद्धररिउ-नरिंदनिवहा भडा जस धवलं ।
पावंति पावपसमिण, पासजिण तुहप्पभावेण ॥ १७ ॥
रोग जल जलण विसहर-चोरारि मइंद गयरण भयाइं ।
पासजिणनामसंकि-त्तणेण, पसमंति सव्वाइं ॥ १८ ॥
एवं महाभयहर, पासजिणिंदस्स संथवमुआरं ।
भविअ जणाणंदयरं, कल्लाण परम्पर निहाणं ॥ १९ ॥
रायभयजक्खरक्खस-कुसुमिण दुस्सउण रिक्खपीडासु ।
संझासु दोसु पंथे, उवसग्गे तह य रयणीसु ॥ २० ॥
जो पढइ जो अ निसुणइ, ताण कइणो य माणतुंगस्स ।
पासो पाव पसमउ, सयल भुवणच्चिय चलणो ॥ २१ ॥
उवसग्गंते कमठा सुरम्मि झाणाओ जो न संचलिओ ।
सुरनर किन्नर जुवइहि संथुओ जयउ पासजिणो ॥ २२ ॥
एअस्स मज्झयारे, अट्ठारसअक्खरेहिं जो मंतो ।
जो जाणइ सो झायइ, परमपयत्थं फुडं पासं ॥ २३ ॥
पासह समरण जो कुणइ संतुट्ठ हियएण ।
अट्ठुत्तरसय वाहि भय, नासइ तस्स दूरेण ॥ २४ ॥

(६) अजित-शान्ति-स्तवन

अजिअं जिअसव्वभयं, संतिं च पसंत सव्व गय पावं । जयगुरु संतीगुणकरे, दोवि जिणवरे पणिवयामि ॥ १ ॥ गाहा ॥ ववगय मंगुलभावे, ते हं विउलतवनिम्मलसहावे । निरुवममहप्पभावे, थोसामि सुदिट्ठसब्भावे ॥ २ ॥ गाहा ॥ सव्व दुक्खप्पसंतीणं, सव्व पावप्पसंतिणं सया अजिय संतीणं, नमो अजिअ संतीणं ॥ ३ ॥ सिलोगो । अजिय जिण । सुहप्पवत्तणं तव पुरिसुत्तम । नामकित्तणं । तह य धिइमइप्पवत्तणं, तव य जिणुत्तम । संति कित्तणं ॥ ४ ॥ मागहिआ ॥ किरिआविहिसंचिअकम्मकिलेसविमुक्खयरं, अजिअं निचिअं च गुणेहिं महामुणिसिद्धिगयं । अजिअस्स य संति महामुणिणोवि अ संतिकरं, सययं मम निव्वुइकारणयं च नमंसणयं ॥ ५ ॥ आलिंगणयं ॥ पुरिसा । जइ दुक्खवारणं जइ अ विमग्गह सुक्खकारणं । अजिअं संतिं च भावओ, अभयकरे सरणं पवज्जहा ॥ ६ ॥ मागहिआ ॥ अरइ रइतिमिरविरहिअ मुवरय जरमरणं, सुरअसुरगरुलभुयगवइपयय पणिवइअं । अजिअमहमवि अ सुनयनयनिउणमभयकरं, सरणमुवसरिअ भुविदिविजमहिअं सययमुवणमे ॥ ७ ॥ संगययं ॥ तं च जिणुत्तममुत्तमनित्तमसत्तधरं, अज्जव मद्दवखंतिविमुत्तिसमाहिनिहिं । संतिकरं पणमामि दमुत्तम तित्थयरं, संतिमुणी मम संति समाहिवरं दिसउ ॥ ८ ॥ सोवाणयं ॥ सावत्थिपुव्वपत्थिवं च वरहत्थिमत्थयपसत्थवित्थिन्नसंथिअं थिरसरिच्छवच्छं मयगललीलायमाणवरगंधहत्थिपत्थाणपत्थियं संथवारिहं, हत्थिहत्थबाहुं धंतकणगरुअगनिरुवहयपिंजरं पवरलक्खणोवचिअसोमचारुरूवं सुइसुहमणाभिरामपरमरमणिज्जवरदेवदुंदुहिनिनायम

हुरयर सुहगिर ॥ ६ ॥ वेड्ढओ ॥ अजिय जिआरिगण, जिअसव्व-भय भनोहरिउ । पणमामि अह पयओ, पाव पसमेउ मे भयव ॥ १० ॥ रासालुद्धओ ॥ कुरुजणवयहत्थिणाउरनरीसरो पढमं तओ महाचक्कवट्टिभोए महप्पभावो, जो बावत्तरिपुरवरसहस्सवरनगरनिगम-जणवयवइ बत्तीसारायवरसहस्साणुयायमग्गो, चउदसवररयणनवमहा-निहिचउसट्ठिसहस्सपवरजुवईण सुन्दरवई, चुलसीहयगयरहसयसह-स्ससामी, छन्नवइगामकोडिसामी आसीज्जो भारहमि भयवं ॥ ११ ॥ वेड्ढओ ॥ तं संतिं संतिकरं, संतिण्णं सव्वभया । संतिं थुणामि जिणं, संतिं विहेउ मे ॥ १२ ॥ रासानंदिग ॥ इक्खागविदेहनरीसर नरवसहा मुणिवसहा, नवसारयससिसकलाणण विगयतमा विहु-यरया, अजिउत्तमतेअगुणेहिं महामुणिअमिअबला विउलकुला, पण-मामि ते भवभयमूरण जगसरणा मम सरणं ॥ १३ ॥ चित्तलेहा ॥ देवदाणविंदचंदसूरवंदहट्ठतुट्ठजिट्ठपरम, लट्ठरूववतरुप्पपट्टसेअसुद्ध-निद्धधवल । दंतपंतिमतिसत्तिकित्तिमुत्तिजुत्तिगुत्तिपवर, दित्ततेअ वंद । धेअ । सव्वलोअभाविअप्पभावणेअ । पइस मे समाहिं ॥ १४ ॥ नारा-यओ ॥ विमलससिकलाइरेअसोमं, वितिमिर सूर कराइरेअतेअं । तिअसवइ गणाइरेअरूवं, धरणिधरप्पवराइरेअ सारं ॥ १५ ॥ कुसु-मलया ॥ सत्ते अ सया अजिअं, सारीरे अ बले अजिअं । तव संजमे अ अजिअं, एस थुणामि जिणं अजिअं ॥ १६ ॥ भुअगपरिरिं-गिअं ॥ सोमगुणेहिं पावइ न तं नवसरयससी, तेअगुणेहिं पावइ न तं नवसरयरवी । रूवगुणेहिं पावइ न तं तिअसगणवइ, सार-

गुणेहिं पावइ न ते धरणिधरवइ ॥ १७ ॥ खित्तियं ॥ तित्थवर-पवत्तयं तमरयरहिअं, धीरजणथुअच्चिअं चुअकलिकलुसं । संतिसुह-प्पवत्तयं तिगरणपयओ, संतिमहं महामुणिं सरणमुवणमे ॥ १८ ॥ ललिअयं ॥ विणओणयसिररइअंजलिरिसिगणसंथुअं थिमिअं, विबुहाहिवधणवइनरवइथुअमहिअच्चिअं बहुसो । अइरुग्गयसरय दिवायरसमहिअसप्पभं तवसा, गयणंगणवियरणसमुइअ चारणवंदिअं सिरसा ॥ १९ ॥ किसलयमाला ॥ असुरगरुल परिवंदिअं, किन्नरोरगनमंसिअं । देवकोडिसयसंथुअं, समणसंघ परिवंदिअं ॥ २० ॥ सुमुहं ॥ अभयं अणहं, अरयं अरुयं, । अजिअं अजिअं, पयओ पणमे ॥ २१ ॥ विज्जुविलसिअं ॥ आगया वरवि-माणदिव्वकणगरहतुरयपहकरसएहिं हुलिअं । ससंभमोअरणखुभिअ लुलिअचलकुंडलंगयतिरीडसोहंतमउलिमाला ॥ २२ ॥ वेड्ढओ ॥ जं सुरसंघा सासुरसंघा, वेरविउत्ता भत्ति सुजुत्ता, आयरभूसिअसंभम-पिंडिअ,सुट्ठुसुविम्हिअसव्वबलोघा । उत्तमकंचणरयणपरूविअ भासु-रभूसणभासुरिअंगा, गायसमोणयभत्तिवसागयपंजलिपेसियसीसप-णामा ॥ २३ ॥ रयणमाला ॥ वंदिऊण थोऊण तो जिणं, तिगुणमेव य पुणो पयाहिणं । पणमिऊण य जिणं सुरासुरा, पमुइआ सभवणाइं तो गया ॥ २४ ॥ खित्तयं ॥ तं महामुणिमहंपि पंजली, रागदोसभय-मोहवज्जिअं । देवदाणवनरिंदवंदिअं, संतिमुत्तममहातवं नमे ॥२५॥ खित्तयं ॥ अंबरंतरविआरणिआहिं, ललिअहंसवहुगामिणिआहिं ।

पीणसोणिपणसालिणिआहिं, सक्लकमलदललोअणिआहिं ॥ २६ ॥ दीवय ॥ पीणनिरंतरथणभरविणमियगायउआहिं, मणिकंचणप सिढिलमेहलसोहिअसोणितडाहिं । वरखिंखिणिनेउरसतिलयवल यविभूसणिआहिं, रइकर चउर मणोहर सुन्दर दसणिआहिं ॥ २७ ॥ चित्तक्खरा ॥ देवसु दरीहिं पायवंदिआहिं वंदिआ य जस्स ते सुविक्कमा कमा अप्पणो निडालएहिं मडणोडुणप्पगारएहिं केहिं केहिं वी अव गतिलयपत्तलेहनामएहिं चिल्लएहिं संगयंगयाहिं भत्तिसंनिविट्ठवंदणा गयाहिं हुंति ते वंदिआ पुणो पुणो ॥ २८ ॥ नारायओ ॥ तमहं जिणचंद, अजिअं जिअमोहं । धुयसव्वकिलेसं, पयओ पणमामि ॥ २९ ॥ नंदिअयं ॥ थुअवंदिअयस्सा रिसिगणदेवगणेहिं, तो देववहुहिं पयओ पणमिअस्सा । जस्स जगुत्तमसासणअस्सा, भत्तिवसागयपिंडिअयाहिं । देववरच्छरसा बहुआहिं, सुरवररइगुण पंडिअयाहिं ॥ ३० ॥ भासुरयं ॥ वंससद्दतंतितालमेलिए तिउक्खरा भिरामसद्दमीसए कए अ, सुइसमाणणे अ सुद्धसज्जगीयपायजाल घंटिआहिं वलयमेहलाकलावनेउराभिरामसद्दमीसए कए अ । देवन ट्टिआहिं हावभावविब्भमप्पगारएहिं नच्चिऊण अंगहारएहिं वंदिआ य जस्स ते सुविक्कमा कमा, तयं तिलोयसव्वसत्तसंतिकारयं, पसंत-सव्वपावदोसमेसहं नमामि संतिमुत्तमं जिणं ॥ ३१ ॥ नारायओ ॥ छत्तचामरपडागजूअजवमंडिआ, झयवरमगरतुरयसिरिवच्छसुलंछणा । दीवसमुद्दमंदरदिसागयसोहिआ, सत्थिअवसहसीहरहचक्कवरंकिया ॥ ३२ ॥ ललिअयं । सहावलट्ठा समप्पइट्ठा, अदोसदुट्ठा गुणेहिं

जिट्ठा। पसायसिट्ठा तवेण पुट्ठा, सिरीहिं इट्ठा रिसिहिं जुट्ठा ॥ ३३ ॥ ॥ वाणवासिआ ॥ ते तवेण धुअसव्वपावया, सव्वलोअ हिअमूल पावया। संथुआ अजिअसंतिपायया, हुंतु मे सिवसुहाण दायया ॥ ३४ ॥ अपरांतिका ॥ एवं तवबलविउलं, थुअं मए अजिअसंति-जिणजुअलं। ववगयकम्मरयमलं गइं गयं सासयं विउलं ॥३५॥ गाहा॥ तं बहुगुणप्पसायं, मुक्खसुहेण परमेण अविसायं। नासेउ मे विसायं, कुणउ अ परिसावि अ प्पसायं ॥ ३६ ॥ गाहा ॥ तं मोएउ अ नंदिं, पावेउ अ नंदिसेणमभिनंदिं। परिसावि अ सुहनंदिं, मम य दिसउ संजमे नंदिं ॥ ३७ ॥ गाहा ॥ पक्खिअचाउम्मासिअ संवच्छरिए अवस्स भणिअव्वो। सोअव्वो सव्वेहिं, उवसग्गनिवारणो एसो ॥ ३८ ॥ जो पढइ जो अ निसुणइ, उभओ कालंपि अजिअसंतिथयं। न हु हुंति तस्स रोगा, पुव्वुप्पन्नावि नासंति ॥ ३९ ॥ जइ इच्छह परमपयं, अहवा कित्तिं सुवित्थडं भुवणे। ता तेलुक्कुद्धरणे, जिणवयणे आयरं कुणह ॥ ४० ॥

(७) भक्तामर-स्तोत्रम्

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम्। सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादावालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥ १ ॥ यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः। स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः, स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २ ॥ बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपाद

पीणसोणिथणसालिणिआहिं, सक्लकमलदललोअणिआहिं ॥ २६ ॥
दीनय ॥ पीणनिरतरथणमरविणमियगायलआहिं, मणिकचणप
सिढिलमेहलसोहिअसोणितडाहिं । वरखिखिणिनेउरसतिलयवलए
थविभूसणिआहिं, रइकर चउर मणोहर सुन्दर दसणीहिं ॥ २७ ॥
चितक्खरा ॥ देवसु दरीहिं पायवदिआहिं वदिआ य जस्स ते सुविक्कमा
कमा अ पणो निडालएहिं मडणोडुणप्पगारएहिं केहिं केहिं वी अव
गतिलयपत्तलेहनामएहिं चिल्लएहिं सगयगयाहिं भत्तिसंनिविट्ठवदणा
गयाहिं हुंति ते वदिआ पुणो पुणो ॥ २८ ॥ नारायओ ॥ तमहं
जिणचद, अजिअं जिअमोह । धुयसव्वकिलेस, पयओ पणमामि
॥ २९ ॥ नदिअय ॥ थुअवदिअयस्सा रिसिगणदेवगणेहिं
तो देववहूहिं पयओ पणमिअस्सा । जस्स जगुत्तमसासणअस्सा
भत्तिवसागयपिंडिअयाहिं । देववरच्छरसा बहुआहिं, सुरवररइगुण
पडिअयाहिं ॥ ३० ॥ भासुरय ॥ वससद्दततितालमेलिए तिउक्खरा
भिरामसद्दमीसए कए अ, सुइसमाणणे अ सुद्धसज्जगीयपायजाल
घटिआहिं वलयमेहलाकलावनेउराभिराममद्दमीसए कए अ। देवन
ट्टिआहिं हावभावविब्भमप्पगारएहिं नच्चिऊण अगहारएहिं वदिआ
य जस्स ते सुविक्कमा कमा, तयं तिलोयसव्वसत्तसतिकारय, पसत-
सव्वपावदोसमेसहं नमामि सतिमुत्तमं जिणं ॥ ३१ ॥ नारायओ ॥
छत्तचामरपडागजूअजवमडिआ, झयवरमगरतुरयसिरिवच्छसुलछणा ।
दीवसमुद्दमदरदिसागयसोहिआ, सत्थिअवसहसीहरहचक्कवरंकिया
॥ ३२ ॥ ललिअय । सहावलट्ठा समप्पइट्ठा, अदोसदुट्ठा गुणेहिं

निट्ठा। पसायसिद्धा तवेण पुट्ठा, सिरीहीं इट्ठा रिसिर्हिं जुट्ठा ॥ ३३ ॥
॥ वाणवासिआ ॥ ते तवेण धुअसव्वपावया, सव्वलोअ हिअमूल पावया । संथुआ अजिअसंतिपायया, हुतु मे सिवसुहाण दायया
॥ ३४ ॥ अपरांतिका ॥ एवं तवबलविउलं, थुअं मए अजिअसंति जिणजुअं । ववगयकम्मरयमलं गइं गयं सासयं विउलं ॥३५॥ गाहा॥
तं बहुगुणप्पसायं, मुक्खसुहेण परमेण अविसायं । नासेउ मे विसायं, कुणउ अ परिसावि अ प्पसायं ॥ ३६ ॥ गाहा ॥ तं मोएउ अ नंदिं, पावेउ अ नंदिसेणमभिनंदिं । परिसावि अ सुहनंदिं, मम य दिसउ संजमे नंदिं ॥ ३७ ॥ गाहा ॥ पक्खिअचाउम्मासिअ संवच्छरिए अवस्स भणिअव्वो । सोअव्वो सव्वेहिं, उवसग्गनिवारणो एसो
॥ ३८ ॥ जो पढइ जो अ निसुणइ, उभओ कालंपि अजिअसंतिथयं । न हु हुंति तस्स रोगा, पुव्वुप्पन्नावि नासंति ॥ ३९ ॥ जइ इच्छह परमपयं, अहवा कित्तिं सुवित्थडं भुवणे । ता तेलुक्कुद्धरणे, जिण वयणे आयरं कुणह ॥ ४० ॥

(७) भक्तामर-स्तोत्रम्

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् । सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादावालम्बनं भवजले पतताम् जनानाम् ॥ १ ॥ यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-दुद्भूतबुद्धि पटुभिः सुरलोकनाथैः । स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः, स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २ ॥ बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपाद

पीठ । स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् । बालं विहाय जलसंस्थित-
मिन्दुबिम्ब-मन्यः क इच्छति जन सहसा ग्रहीतुम् ॥ ३ ॥ वक्तु
गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्, कस्ते क्षम सुरगुरुप्रतिमोऽपि
बुद्ध्या । कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्र, को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं
भुजाभ्याम् ॥ ४ ॥ सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !, कर्तुं
स्तव विगतशक्तिरपि प्रवृत्त । प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्र-
नाभ्येति किं निजशिशो परिपालनार्थम् ॥ ५ ॥ अल्पश्रुत श्रुतवता
परिहासधाम, त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् । यत्कोकिल
किल मधौ मधुर विरौति, तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतु ॥ ६ ॥ त्व-
त्संस्तवेन भवसन्तति सन्निबद्ध, पाप क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु, सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्
॥ ७ ॥ मत्वेति नाथ तव संस्तवन मयेद मारभ्यते तनुधियाऽपि तव
प्रभावात् । चेतो हरिष्यति सत नलिनीदलेषु, मुक्ताफलद्युतिमुपैति
ननूदबिन्दु ॥ ८ ॥ आस्ता तव स्तवनमस्तसमस्तदोष, त्वत्संकथाऽपि
जगता दुरितानि हन्ति । दूरे सहस्रकिरण कुरुते प्रभैव, पद्माकरेषु
जलजानि विकाशभाञ्जि ॥ ९ ॥ नात्यद्भुत भुवनभूषण भूतनाथ !,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त । तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन
किं वा, भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति ॥ १० ॥ दृष्ट्वा भवन्त
मनिमेषविलोकनीय, नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु । पीत्वा
पय शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धो । क्षार जल जलनिधेरशितु क इच्छेत्
॥ ११ ॥ यै शान्तरागरुचिभि परमाणुभिस्त्व, निर्मापितस्त्रिभुवनै-

कल्लामभूत ॥ तावन्त एव खलु तेऽप्यणव पृथिव्या, यत्ते समानम-
पर न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥ वक्त्र क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् । बिम्ब कलङ्कमलिनं क्व निशा-
करस्य, यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम्॥ १३ ॥ संपूर्णमण्डल-
शशाङ्ककलाकलाप; शुभ्रा गुणास्त्रिभुवन तव लङ्घयन्ति । ये सश्रिता-
स्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेक, कस्तान्निवारयति सचरतो यथेष्टम् ॥ १४ ॥
चित्र किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-र्नीत मनागपि मनो न विकार-
मार्गम् । कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन, किं मन्दराद्रिशिखर
चलित कदाचित् ॥ १५ ॥ निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूर, कृत्स्नं
जगत्त्रयमिद प्रकटीकरोषि । गम्यो न जातु मरुता चलिताचलाना,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाश ॥ १६ ॥ नास्त कदाचिदुपयासि
न राहुगम्य । स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति । नाम्भोधरोदर
निरुद्धमहाप्रभाव, सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ॥ १७ ॥
नित्योदय दलितमोहमहान्धकार, गम्य न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति, विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम्
॥ १८ ॥ किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा, युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु
तमस्सु नाथ । निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके, कार्यं कियज्जल
धरैर्जलभारनम्रै ॥ १९ ॥ ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैव तथा हरिहरादिषु नायकेषु । तेज स्फुरन्मणिषु याति यथा
महत्त्व, नैव तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥ २० ॥ मन्ये वर हरि-
हरादय एव दृष्टा, दृष्टेषु येषु हृदय त्वयि तोषमेति । किं वीक्षितेन

भवता भुवि येन नान्य, कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥ २१ ॥ स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्, नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता। सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं, प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥ २२ ॥ त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्। त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं, नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥ २३ ॥ त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं, ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्। योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं, ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥ २४ ॥ बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्, त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्। धाताऽसि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्, व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥ २५ ॥ तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ! तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय। तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय, तुभ्यं नमो जिन! भवोदधिशोषणाय ॥ २६ ॥ को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश!। दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः, स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ २७ ॥ उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्। स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं, बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥ २८ ॥ सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे, विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्। बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं, तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥ २९ ॥ कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं, विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्। उद्यच्छशाङ्कशुचिनि

निधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-पाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ । रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा -स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ॥४०॥ उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना, शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः । त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा, मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥ ४१ ॥ आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा, गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः । त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः, सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥ ४२ ॥ मत्तद्विपेन्द्र मृगराजदवानलाहि, संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् । तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव, यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥ ४३ ॥ स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां, भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् । धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं, तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥ ४४ ॥

(८) श्रीकल्याणमंदिरस्तोत्रम् ॥

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि, भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रिपद्मम् । संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तु, पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥१॥ यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः, स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम् । तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो, स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥ २ ॥ युग्मम् ॥ सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप, मस्मादृशः कथमधीश ! भवन्त्यधीशाः । धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो, रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ? ॥ ३ ॥ मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ मर्त्यो, नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत ।

कल्पान्तवातपयसः प्रकटोऽपि यस्मात्, मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ॥ ४ ॥ अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ जडाशयोऽपि, कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य । बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य, विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥ ५ ॥ ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश, वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः । जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं, जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥ ६ ॥ आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति । तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे, प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥ ७ ॥ हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति, जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यमभागमभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥ ८ ॥ मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र ! रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि । गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे, चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥ ९ ॥ त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव, त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः । यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नूनमन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥ १० ॥ यस्मिन् हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः, सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन । विध्यापिता हुतभुजः पयसाऽथ येन, पीतं न किं तदपि दुर्धरवाडवेन ॥ ११ ॥ स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्नास्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः । जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन, चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥ १२ ॥ क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो, ध्वस्तास्तदा बत कथं किल

कर्मचौरा ! प्लोषत्यमुत्र यदिवानिशिराऽपि लोके, नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ? ॥ १३ ॥ त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूप-मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोशदेशे । पूतस्य निर्मलरुचेर्यदिवा किमन्यदक्षस्य सम्भवि पदं ननु कर्णिकायाः ॥ १४ ॥ ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन, देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति । तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके, चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥१५॥ अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं, भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ? । एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि, यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥ १६ ॥ आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या, ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः । पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं, किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ? ॥ १७ ॥ त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि, नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः । किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो, नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ? ॥ १८ ॥ धर्मोपदेशसमये सविधानुभाव-दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः । अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि, किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ॥ १९ ॥ चित्रं विभो ! कथमवाङ्मुखवृन्तमेव, विष्वक् पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः । त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश ! गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥ २० ॥ स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति । पीत्वा यतः परमसम्मदसङ्गभाजो, भव्या व्रजन्ति तरसाऽप्यजरामरत्वम् ॥ २१ ॥ स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो, मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः । येऽस्मै नतिं विद

विदिताखिलवस्तुसार ! संसारतारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !।
त्रायस्व देव ! करुणाह्रद ! मा पुनीहि, सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बु
राशे ॥ ४१ ॥ यद्यस्ति नाथ ! भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां, भक्ते फलं किमपि
संततिसंचितायाः । तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूयाः, स्वामी त्वमेव
भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥ ४२ ॥ इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र !,
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः । त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्ध
लक्ष्या, ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः ॥ ४३ ॥ जननयन-
कुमुदचन्द्र ! प्रभास्वराः स्वर्गसंपदो भुक्त्वा । ते विगलितमलनिचया,
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥ युग्मम् ॥

(९) बृहद्-शांति

भो भो भव्याः ! शृणुत वचनं प्रस्तुतं सर्वमेतद् ये यात्रायां
त्रिभुवनगुरोरार्हता भक्तिभाजः । तेषां शान्तिर्भवतु भवतामर्हदादि-
प्रभावादारोग्य श्रीधृतिमतिकरी क्लेशविध्वंसहेतुः ॥ १ ॥ भो भो
भव्यलोकाः ! इह हि भरतैरावतविदेहसंभवानां समस्ततीर्थकृतां जन्म-
न्यासनप्रकम्पानन्तरमवधिना विज्ञाय, सौधर्माधिपतिः सुघोषा घण्टा-
चालानानन्तरं सकलसुरासुरेन्द्रैः सह समागत्य, सविनयं महद्-
भट्टारकं गृहीत्वा गत्वा कनकाद्रिशृङ्गे, विहितजन्माभिषेकः, शान्ति
मुद्घोषयति यथा, ततोऽहं कृतानुकारमिति कृत्वा महाजनो येन गतः
स पन्थाः इति भव्यजनैः सह समेत्य, स्नात्रपीठे स्नात्रं विधाय,
शान्तिमुद्घोषयामि तत्पूजायात्रास्नात्रादिमहोत्सवानन्तरमितिकृत्वा

पर्गं दत्वा निशम्यता निशम्यता स्वाहा ॥ प पुण्याहं पुण्याहं प्रीयन्ता प्रीयन्तां भगवन्तोऽर्हन्त सर्वज्ञा सर्वदर्शिनस्त्रिलोकनाथास्त्रिलोकमहितास्त्रिलोकपूज्यास्त्रिलोकेश्वरास्त्रिलोकोद्योतकरा ॥ ॐ ऋषभ-अजित-संभव-अभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-सुपार्श्व चन्द्रप्रभ सुविधि शीतल—श्रेयांस—वासुपूज्य—विमल—अनन्त—धर्म—शान्ति—कुन्थु—अर—मल्लि मुनिसुव्रत—नमि—नेमि—पार्श्व—वर्द्धमानान्ता जिना शान्ता शान्तिकरा भवन्तु स्वाहा ॥

ॐ मुनयो मुनिप्रवरा रिपुविजयदुर्भिक्षकान्तारेषु दुर्गमार्गेषु रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ॥ ॐ ह्रीं श्रीं धृतिमति कीर्ति-कान्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-मेधाविद्यासाधन—प्रवेश निवेशनेषु सुगृहीतनामानो जयन्तु ते जिनेन्द्रा ॥ ॐ रोहिणी-प्रज्ञप्ति-वज्रशृङ्खला-वज्राङ्कुशी-अप्रतिचक्रा पुरुषदत्ता-काली-महाकाली-गौरी—गान्धारी—सर्वास्त्रामहाज्वाला-मानवी—वैरोट्या-अच्छुप्ता—मानसी-महामानसी षोडश विद्या—देव्यो रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ॥ ॐ आचार्योपाध्यायप्रभृतिचातुर्वर्ण्यस्य श्रीश्रमणसङ्घस्य शान्तिर्भवतु तुष्टिर्भवतु पुष्टिर्भवतु ॥ ॐ ग्रहाश्चन्द्र सूर्याङ्गारकबुधबृहस्पतिशुक्रशनैश्चरराहुकेतुसहिता सलोकपाला सोमयमवरुणकुबेरवासवादित्यस्कन्दविनायकोपेता ये चान्येऽपि ग्रामनगरक्षेत्रदेवतादयस्ते सर्वे प्रीयन्तां प्रीयन्ता अक्षीणकोषकोष्टागारा नरपतयश्च भवन्तु स्वाहा । ॐ पुत्र—मित्र—भ्रातृ—कलत्र-सुहृत्—स्वजन सम्बन्धि बन्धुवर्गसहिता नित्य चामोदप्रमोदकारिण

विदधते मुनिपुङ्गवाय, ते नूनमूर्ध्वगतय खलु शुद्धभावा ॥२२॥ श्याम गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न, सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम् । आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै, श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥ २३ ॥ उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन, लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव । सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !, नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥ २४ ॥भो भो प्रमादमवधूय भजध्वमेन-मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम् । एतन्निवेदयति देव ! जगत्त्रयाय मन्ये नदन्नभिनभ सुरदुन्दुभिस्ते ॥ २५ ॥ उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ !, तारान्वितो विधुरयं विहताधिकार । मुक्ताकलापकलितोच्छ्वसितातपत्र, व्याजात्त्रिधाधृततनुर्ध्रुवमभ्युपेत ॥ २६ ॥ स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन । माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन, सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥ २७ ॥ दिव्यस्रजो जिन ! नमत्त्रिदशाधिपाना-मुत्सृज्य रत्न रचितानपि मौलिबन्धान् । पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र, त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ॥ २८ ॥ त्वं नाथ ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि, यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान् । युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाकशून्य ॥ २९ ॥ विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वं, किं वाऽक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश ! अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकाशहेतु ॥ ३० ॥ प्राग्भारसंभृतनभांसि रजांसि रोषा-दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि । छायाऽपि तैस्तव न नाथ ! हता हताशो, ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा

॥ ३१ ॥ यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम, भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोर धारम् । दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे, तेनैव तस्य जिन ! दुस्तर वारिकृत्यम् ॥ ३२ ॥ ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड, प्रालम्बभृद्-भयदवक्त्रविनिर्यदग्नि । प्रेतव्रज प्रति भवन्तमपीरितो यः सोऽस्य भवत्प्रतिभव भवदुःखहेतु ॥ ३३ ॥ धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य, माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्या भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मल देहदेशा, पादद्वय तव विभो ! भुवि जन्मभाज ॥ ३४ ॥ अस्मिन्न पारभववारिनिधौ मुनिश ! मन्ये न मे श्रवण गोचरता गतोऽसि । आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे, किं वा विपद्विषधरी सविध समेति ? ॥ ३५ ॥ जन्मान्तरेऽपि तव पादयुग न देव ! मन्ये मया महितमीहित दानदक्षम् । तेनेह जन्मनि मुनिश ! पराभवाना, जातो निकेतनमह मथिताशयानाम् ॥ ३६ ॥ नून न मोहतिमिरावृतलोचनेन पूर्व विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि, मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्था, प्रोद्यत्प्रबन्धगतय कथमन्यथैते ? ॥ ३७ ॥ आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि, नून न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या । जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्र यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या ॥ ३८ ॥ त्व नाथ ? दुःखिजनवत्सल ! हे शरण्य ! कारुण्यपुण्यवसते वशिना वरेण्य ! भक्त्या नते मयि महेश ! दया विधाय दुःखाङ्कुरो-द्दलनतत्परता विधेहि ॥ ३९ ॥ निःसख्यसारशरण शरण शरण्य मासाद्य सादितरिपु प्रथितावदातम् । त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो वन्ध्योऽस्मि चेद्भुवनपावन ! हा हतोऽस्मि ॥ ४० ॥ देवेन्द्रवन्द्य !

अस्मिंश्च भूमण्डलायतननिवासिसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकाणा रोगोप सर्गव्याधिदुःखदुर्भिक्षदौर्मनस्योपशमनाय शान्तिर्भवतु ॥

ॐ तुष्टिपुष्टिऋद्धिवृद्धिमाङ्गल्योत्सवा सदा प्रादुर्भूतानि पापानि शाम्यन्तु दुरितानि । शत्रव पराङ्मुखा भवन्तु स्वाहा ॥

श्रीमते शान्तिनाथाय, नम शान्तिविधायिने । त्रैलोक्यस्या-मराधीश-मुकुटाभ्यर्चिताङ्घ्रये ॥ १ ॥ शान्ति शान्तिकर श्रीमान्, शान्ति दिशतु मे गुर । शान्तिरेव सदा तेषा, येषा, शान्तिर्गृहे गृहे ॥ २ ॥ उन्मृष्टरिष्टदुष्टग्रहगतिदु स्वप्नदुर्निमित्तादि । सपादितहित-सपन्नामग्रहण जयति शान्ते ॥ ३ ॥ श्री सङ्घजगज्जनपद-राजाधिप राजसन्निवेशानाम् । गोष्ठिकपुरमुख्याणा, व्याहरणैर्व्याहरेच्छा न्तिम् ॥ ४ ॥

श्रीश्रमणसङ्घस्य शान्तिर्भवतु । श्रीजनपदाना शान्तिर्भवतु । श्री राजाधिपाना शान्तिर्भवतु । श्रीराजसन्निवेशाना शान्तिर्भवतु । श्रीगोष्ठिकाना शान्तिर्भवतु श्रीपौरमुख्याणा शान्तिर्भवतु । श्रीपौरजनस्य शान्तिर्भवतु । श्री ब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु, ॐ स्वाहा ॐ स्वाहा ॐ श्री पार्श्वनाथाय स्वाहा ॥

एषा, शान्ति प्रतिष्ठायात्रास्नात्राद्यवसानेषु । शान्तिकलश गृहीत्वा, कुङ्कुमचदनकर्पूरागरुधूपवासकुसुमाञ्जलिसमेत, स्नात्रचतुष्किकाया

श्रीमदर्हत्समेत शुचिशुचिवपुः पुण्यवत्पदं पुष्पमालां कण्ठे कृत्वा, शान्तिमुद्घोषयित्वा शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमिति। नृत्यन्ति नृत्यं मणिपुष्पवर्षं,–सृजन्ति गायन्ति च मङ्गलानि। स्तोत्राणि गोत्राणि पठन्ति मन्त्रान्, कल्याणभाजो हि जिनाभिषेके ॥ १ ॥ शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः। दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखीभवन्तु लोकाः ॥ २ ॥ अहं तित्थयरमाया, सिवादेवी तुम्ह नयरनिवासिनी। अम्ह सिवं, तुम्ह सिवं, असिवोवसमं सिवं भवतु स्वाहा ॥ ३ ॥ उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः। मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥ ४ ॥ सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वकल्याणकारणम्। प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनम् ॥ ५ ॥ इति बृहत्-शान्ति स्तव।

श्री नवस्मरणानि समाप्तानि

धर्म मंगल

(पूज्यपाद् शान्तमूर्ति पन्यास भद्र कर विनयजी गणिवर्य)

धम्मो मगल मुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म उत्कृष्ट मगल है। धर्म ही सब सुख और शांति का आधार है। वह धर्म अहिंसा, सयम और तप रूप है।

अहिंसा-सब जीवों को सहन रूप है, सयम-सब सुखों को सहन रूप है तथा तप सब दुःखों को सहन रूप है।

अहिंसक सब जीवों को प्रिय बन्धु मानता है। "मती से सव्व भूएसु" यह भाव आत्मसाक्षात्कार हो जाये तो फिर किसी जीव के प्रति वैर विरोध नहीं होगा? स्नेही माता को बच्चा लात मार देता है तो भी उसमें तो स्नेह वृद्धि ही होती है। माता बच्चे पर कुपित नहीं होती है अपितु उसका पैर दबाने लगती है कि कहीं इसे चोट न लगी हो।

अहिंसक भाव आने पर सब जीवों के प्रति आत्मीयता का प्रकटीकरण हो जाता है। फिर उन जीवों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल सभी व्यवहार में सहनशीलता बनी रहती है।

आतम सर्व समान निधान महासुख कन्द,
सिद्ध तना साधर्मी सत्ता ए गुण वृन्द।
एह स्व जाति तेह थी कौन करे वध बन्ध,
प्रगटयो भाव अहिंसक, जाने शुद्ध प्रबन्ध॥

निश्चय नय से सभी आत्माएं समान हैं। परम सुख की भण्डार है। सत्ता से अनन्त गुण स्वरूप हैं। अत सिद्ध परमात्मा की साधर्मी हैं।

ऐसी साधर्मिक वात्सल्यता आ जाने तो वैर विरोध चले जायेंगे। अहिंसक भाव प्रकट हो जाने से ही आत्मा के शुद्ध स्वरुप का बोध होता है।

सयम बाह्य सुखों को सहन करना है यह जीव अनादि काल से बाह्य भौतिक सुखों का लोलुपी है। सुख तो आत्मा का स्वभाव है। परन्तु वह सुख पर के पराधीन नहीं है। पर के आश्रित सुख वस्तुत सुख नहीं परन्तु सुखाभास है अत अन्तत आत्मा को दु ख का कारण भूत है। चाकू की धार पर लगे हुए शहद को चाटने पर मिठास का अनुभव कितना और पश्चात् पीड़ा का भोग कितना? इन्द्रिय जन्य भौतिक साधन सामग्री में अनासक्त, अलिप्त रहना सयम है।

स्व सब दु ख को सहन करना है। अपनी आत्मा पूर्व में अज्ञानता वश जो भूलें कर चुकी है उसका उदयमान परिपाक दण्ड आनन्द पूर्वक सहन कर लेना तप है।

"अप्पा कत्ता विकत्ताय सुहाण वा दुहाणय।" अपनी आत्मा ही सुख दु ख की कर्त्ता और भोक्ता है।

गज सुकुमाल ने पूर्व भव में सौत के पुत्र के सिरपर गर्म २ रोटी इर्षावश बाध दी। कर्म विपाक उदय में आया। बालक का जीव सोमशर्मा त्यागी गज सुकुमाल के सिर पर अगार रखने लगा। महान् तपस्वी मुनि विचारने लगे कि यह मेरे सिर पर मोक्ष की पगड़ी बाध रहा है। यह तप सर्व कर्मों के नाश का कारण बना महात्मा गज सुकुमाल सब कर्म खपा कर मोक्ष के शाश्वत सुख के अधिकारी बने।

इस अहिंसा सयम तप रूप धर्म से सुवासित आत्माओं को स्वर्ग के विबुध देव भी नमस्कार करते हैं। ❋

जीवन सफलता

जीवन सफलता का आधार है —

'अन्त. करण की पवित्रता'

यदि हमारा अन्त करण परमात्मा की ज्ञान धारा से पवित्र होता जा रहा है, गुण वृद्धि कर रहा है तो बाह्य ससार हमारी आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।

जब हम बाह्य से अभ्यन्तर की ओर आने लगेंगे तभी हमें कुछ तृप्ति का अनुभव होगा । जैसे २ बाह्य भावों से विमुख होकर आत्म भावों में निमग्न होंगे अर्थात् आत्म सम्मुख अभिगमन होता जायगा वैसे २ हमारा चित्त प्रसन्नता और परम तृप्ति का अनुभव करेगा ।

जीवन की प्रत्येक घटना को हम दो भागों में बाट सकते हैं ।

(१) स्वभाव (२) विभाव

ससार के प्रपच की एक २ क्रिया करते समय या करने के बाद यह विचार रहना चाहिये कि —

"यह कार्य मेरा नहीं है । यह तो विभाव दशा का है । कर्मों के द्वारा बनी हुई घटना है ।"

इस प्रकार विवेकज्ञान (भेद ज्ञान) की दृष्टि तीव्र बनानी आवश्यक है । ससार की घटनाओं में यह जागृति रहनी अशक्य नहीं परन्तु दुष्कर अवश्य है । तथापि परम तृप्ति के लिए दुष्कर को भी सुकर बनाना होगा --- हमने परम कृपालु परमात्मा जिनेश्वर देव

दिया है, शक्ति एवं सयोग के अनुसार हम साधना के मार्ग पर च
रहे हैं—तब अवश्य ही हमारा प्रयाण परम-सफलता मुक्ति की ओ
है ।

गुक्ति द्वारा प्रभु से हम अनुराग करते हैं।
यह हमारे प्रयाण की निशानी है ॥

हमारे जीवन का ठोस कार्य.—

बाह्य धर्म जन्य भावों से अलिप्त होते जाना।
विशुद्ध आत्मस्वरूप की ओर बढ़ते जाना।
इस कार्य के लिए परमात्मा से प्रीति, भक्ति एवं समर्पण भा
को हमें दृढ़ बनाना होगा।

यदि हम एक क्षण के लिए भी परमात्मा में अपने विचा
केन्द्रित करें तो हमारे अनन्त कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। य
विश्वास श्री हरि भद्र सूरिजी जैसे आचार्य महाराज ने दिया है।

हम प्रभु में संयोजन करते चलें और दूसरा सब काम परमात्म
पर छोड़ दें। ज्यों २ परमात्मा मे संयोजना होती जायगी हम शुद्ध
आत्मभाव ,परमानन्द स्वरूप की ओर अग्रसर बनते जायेंगे।
जीवन सफलता का यहीमार्ग है।

सारमेतन्मया लब्ध श्रुताब्धेरवगाहनात् ।
भक्तिर्भागवती बीज परमानन्दसम्पदाम् ॥

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी फरमाते हैं कि श्रुतसागर में
गहरी डुबकी लगाने पर मुझे यह सार प्राप्त हुआ है कि परमात्मा की
भक्ति परमानन्द सम्पदाओं का बीज है। यही अन्त करण की पवित्रता
एव जीवन सफलता का आधार है।